

श्री वर्धमान स्वामिने नमः

श्री

तत्त्वज्ञान-स्मारिका

हिन्दी-विभाग



भारतीय संस्कृति और
विज्ञानवादका सुमेल
प्रतिपादनकरनेवाले लेखोंका स'ग्रह

प्रकाशक
श्रीवर्धमान जैन पेढी
पालीताणा (सौराष्ट्र)

श्री वर्द्धमानस्वामिने नमः



श्रीतत्त्वज्ञान-स्मारिका

हिंदी विभाग

भारतवर्षीय-संस्कृतिकी आधारशिला पर
भूगोल-खगोलके प्राचीन-अर्वाचीन
विचारोंकी तटस्थ समीक्षारूप
तात्त्विक छेखोंका संग्रह



मध्यावगाही तत्त्वं ल



प्रकाशिका
श्री वर्द्धमान जैन पेढी
पालीताणा

प्रथमावृत्ति
२५०

मूल्य पांच रुपया

वीर नि. सं.
२५०८

वि. सं.
२०३८

पुस्तक प्राप्ति के स्थान

श्री वर्धमान जैन पेढी
भातावाता के पीछे,
जैन आगम मंदिर के पास, तलेटी,
पालीताणा (सौराष्ट्र) - ३६४ २७०.

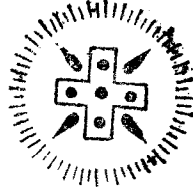
श्री वर्धमान जैन पेढी
केशवकुंज - बडआ की पोल,
रायपुर चकला,
अहमदाबाद - ३८० ००१.

SCIENCE WITHOUT
PHILOSOPHY IS LAME
PHILOSOPHY WITHOUT SCIENCE
IS BLIND

मुद्रक :

जगदीश मणिलाल शाह
नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस,
बीकाया रोड, अहमदाबाद - ३८० ००१

श्री वर्धमानस्वामिने नमः ।



प्रकाशक की ओर से.....

सुज्ञ विद्वज्जन एवं जिज्ञासु-वाचकों के समक्ष महत्त्वपूर्ण एक नई चीज भेंटरूप लेकर हम आनन्द-गौरव के साथ उपस्थित हो रहे हैं ।

जिसे पाकर जिज्ञासु-वाचक एवं तटस्थ-विद्वान जरूर ऐसी धन्यता का अनुभव करेंगे कि—

“ भारतीय-साहित्य में प्रायः अविचारित या करीबन उपेक्षित भूगोल-खगोल सम्बन्धी अनेक प्राचीन-अर्वाचीन विचारधारा का प्रस्तुतीकरण एवं भारतीय-आर्यसंस्कृति की अमूल्य विरासत की पहचान करानेवाले महत्त्वपूर्ण अनेक निबंधों के संग्रहस्वरूप “ श्री तत्त्वज्ञान-स्मारिका ” नामक विशालकाय ग्रन्थ की सर्वदेशीय उपयोगिता कितनी है ? ”

अत एव कुछ संस्कृतिप्रेमी-महानुभावों की सूचनानुसार उसी विशाल स्मारिका-ग्रन्थ को विषय-विभाग एवं भाषा-विभाग की दृष्टि से विभक्त कर खंडानुसार छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में विविध-जिज्ञासुओं की इच्छारुचि को सन्तुष्ट करने के शुभ-आशय से पृथक् पुस्तक के रूप में सुज्ञ-विद्वान एवं जिज्ञासु-वाचकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं ।

वास्तव में ! भारतीय-संस्कृति का प्राण अध्यात्मवाद एवं विज्ञान है !

किंतु

वर्तमानकाल में भौतिकवाद-मिश्रित विज्ञान की ‘नींव’ पर पाश्चात्य-संस्कृति विकास पा रही है !!!

फलस्वरूप बचपन से ही शिक्षण के माध्यम पर भौतिकवाद एवं विज्ञान की चकाचौंध में आकर नवशिक्षित विद्वान एवं नई पीढ़ी अज्ञानवश एवं कालदोष के बल पर घर में रहे हुए निभानतुल्य अध्यात्मवाद-तत्त्वज्ञान के मर्म को समझने से वंचित हो रही है ।

इस निष्कर्ष को लक्ष्य में रखकर पू. आगमोद्धारक, आगमवाचनादाता, आगमसम्राट्, पू. ध्यानस्थ स्वर्गत आ. श्री आनन्दसागर-सूरीश्वरजी म. के पट्टप्रभावक पू. आ. श्री चन्द्रसागर सूरीश्वरजी के परमविनेय तपोमूर्ति विशुद्धसंयमी शासनज्योतिर्धर पू. उपा. श्री धर्मसागरजी म. के शिष्य पू. पं. श्री अभयसागरजी म. गणीवर्यश्री ने पीछले ३४ साल से नई पीढ़ी की धर्मश्रद्धा को डिगमिगानेवाले भूगोल-खगोल के मौलिक तथाकथित-सिद्धान्तों को गहरे अभ्यास और संशोधन कर के गलत साबित किये, और वास्तविक-स्थिति का परिचय देने हेतु शाश्वतप्रायः श्री सिद्धाचल-महातीर्थ की पवित्र-छाया में जैन-आगम मन्दिर के पास भातेखाते के पीछे आतपुर के रोड पर ८ एकड़ की विशाल जमीनपर ५० लाख रुपये के व्यय से तैयार होने वाली जंबूद्वीप योजना की हमें प्रेरणा दी ।

फलतः “ पृथ्वी गोल नहीं-पृथ्वी घूमती नहीं ” इस तथ्य को वैज्ञानिक ढंग से प्रमाणित करने हेतु १४ राजलोक, तीर्छालोक, मनुष्यक्षेत्र, जंबूद्वीप, भरतक्षेत्र, मध्यखंड एवं वर्तमान विश्व के

विचित्र प्रमाणयुक्त सुन्दर मोडल रचना एवं आकृति-चित्र मकराणा के मारखल आरस, गंग्रा पोरबन्दर के लालपापाण पर भव्य कलात्मक रूप से प्रस्तुत करने का कार्य अभी धर्मधोकार चालु है

अगले पाँच वर्ष में साकार होने वाली इस योजना से नई पीढ़ी की धर्मश्रद्धा रहे पायेंगे।

इस योजना के आद्य प्राणरूप चरम-तीर्थंकर प्रभु महावीर परमात्मा हैं, उन्हीं आगमों के आधार पर यह योजना मूर्त बन रही है।

इसीलिए ONE OF INDIA रूप भव्य जिनालय श्री महावीर परमात्मा १८ फीट का परिकर एव २१ फीट के मंगलतोरण सुशोभित आदमकद प्रतिमा वाला श्री महावीर परमात्मा का पूर्वाभिमुख भव्य जिनालय श्री जंबूद्वीप योजना के पास ही अद्भुत भव्य १०॥ फीट उँची पीठिका २० फीट का विशाल भूमिगृह और १११ फीट उँचा शिखर आदि विशेषतायुक्त ५० लाख के खर्च से तैयार हो रहा है।

इस जिनालय के २०३७ के फाल्गुन कृष्ण २ के शिलास्थापन के अवसर पर इन योजनाओं का महत्त्व समजानेवाले अनेक लेखों से समृद्ध श्री तत्त्वज्ञान-स्मारिका प्रकाशित करने का निर्णय सं. २०३६ के श्रावण मास में पाटण (सागर के उपाश्रय) में चातुर्मास स्थित पू. उपा. श्री धर्मसागरजी म. के शिष्य पू. पं. श्री अभयसागरजी म. की निश्रा में हुआ था।

तदनुसार पू. आचार्य आदि पदस्थ एवं विद्वान मुनिराज जैन तथा जैनतर विद्वानों को आमंत्रण पत्र भेज कर विविध लेखों को पाने की चेष्टा की।

आश्चर्य की बात है कि—देवगुरु के प्रताप से आषाढी वृष्टि की ज्यों विविध लेखों की बौझार हमारे पर हुई, जिस से खूब ही समृद्ध रूप में “श्री तत्त्वज्ञान-स्मारिका” ८०० पेज की समृद्ध-ग्रन्थके रूप में तैयार होकर श्री-संघ की सेवा में प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

किन्तु रुचिभेद के कारण संघ-को सभी लेख अनुकूल न आवें, अतः उसी स्मारिका-ग्रन्थ का खंड एवं विषय-विभाग के अनुरूप छोटी छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय कुछ सहृदय धर्मप्रेमी सज्जनों की सूचना के अनुरूप किया है।

तदनुसार यह प्रकाशन विशेष उपयोगी होगा ऐसी हमारी धारणा है।

इस प्रकाशन स्मारिका में निर्दिष्ट अनेक पू. श्रमण भगवन्त हैं और धर्मप्रेमी महानुभावों का पुण्य-सहयोग प्राप्त हुआ है। उन सब का यहाँ पुनः नामनिर्देश करना ठीक नहीं समझ कर मात्र पहले के ग्रन्थ में गलती से छूटा हुआ पू. आ. श्री दर्शनसागर सूरीश्वरजी के शिष्य पू. गणी श्री महायशसागरजी म. के प्रति हम खूब श्रद्धांजलि के भाव से नत मस्तक हैं कि—जिन्होंने खूब ही श्रम उठाकर मुद्रण सम्बन्धी अनेक विशिष्ट जवाबदारीयाँ प्रारंभ में उठाकर हमारे इस मुद्रण कार्य को वेगशीली बनाया था।

आखिर में नम्र निवेदन है कि तटस्थ-दृष्टि से लेखों की संकलना के मूल आशय को दृष्टिगत रखकर सुज्ञ विवेकी वाचक इन लेखों का सत्यान्वेषी दृष्टि से अवगाहन करें।

मुद्रणदोष दृष्टिदोष एवं छद्मस्थतावश इस प्रकाशन में कोई त्रुटि रही हो तो परिमार्जन कर लें, और हम उस बदल हार्दिक क्षमा माँगते हैं।

वीर नि. सं. २५०८
वि. सं. २०३८
अषाढ सुद १ मंगल
२२-१-८२

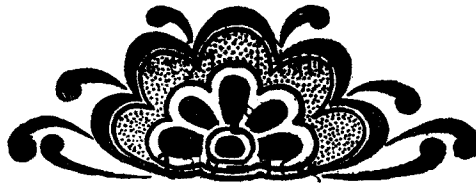
निवेदक—
श्री वर्धमान जैन पेढी
जैन आगम मन्दिर के पास, भाथाखाता, तलेटी के पीछे,
पालीताणा-३६४२७०

ता. क. :—लेखकों के विचारों के साथ संपादक या प्रकाशक सम्पूर्ण सहमत होने की कोई धारणा न करें।



श्री वर्धमान स्वाभिने नमः
आर्यसंस्कृति अने विज्ञानवाहनी विचारसेहनी भाध पूरवानुं
प्रशस्त काम करनार लेभोथी भरपूर.
तत्त्वज्ञान अने भारतीय-संस्कृतिना
मानदंडथी
पृथ्वीना आकार-गति
अने
अंद्रयात्रा-विषय
ना
लेभोने संग्रह

श्री
तत्त्वज्ञान-स्मारिका



डिंही-विभाग
पृष्ठ : १ थी १३६

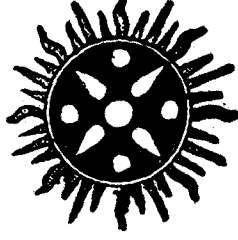


श्री चर्धमान स्वाभिने नमः

शुं..... ??? कथां..... ???

१	ॐ नमः सिद्धं	१-११
२	ऋतं सत्यं च	१२-१४
३	बीजाक्षर एवं उनका महत्त्व	१५-२१
४	नाद बिन्दु कला	२२-२६
५	सूर्य-प्रलम्बिके आधारपर सूर्यकी गति	२७-२९
६	वैदिक साहित्यमें पृथ्वी	३०-३२
७	दार्शनिक-आलोकमें आत्मा	३३-३८
८	वैदिक-साहित्य में आत्मा	३९-४१
९	जैन-दर्शन और अस्तिकाय	४२-५१
१०	परमाणु-पुद्गल-संस्थाने	५२-५८
११	सप्तभंगी	५९-७६
१२	ज्योतिष विज्ञान	७७-८१
१३	वैज्ञानिकी दृष्टिमें सौर-परिवार	८२-८५
१४	जैन-साहित्यमें भूगोल	८६-८९
१५	सुख-मीमांसा	९०-९२
१६	भावना-वर्गीकरण	९३-९६
१७	प्राचीन-भारतकी जैन शिक्षा प्रणाली	९७-१०१
१८	पाटन और हिन्दी	१०२-१०९
१९	देवलोका की सृष्टी	११०-११५
२०	योगशास्त्रके अनुसार भुवनोंका स्वरूप	११६-१२२
२१	पृथ्वी गोल नहीं	१२३-१२८
२२	पृथ्वी संबंधी नवीन तथ्य	१२९-१३६

॥ श्री बद्धमान स्वामिने नमः ॥



नमः सिद्धं

(रहस्यात्मक विवेचन)

ले. अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यास
श्री भद्रंकरविजयजी महाराज



संसार के सभी धर्मों में सिद्ध पद का महत्व गाया गया है।

“सिद्धो वर्णः, अर्थात् भाषाओं के आधार वर्ण स्वयं सिद्ध हैं—कह कर यह उद्घोष किया गया है कि—

इहलौकिक एवं पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए वर्णमातृका की सिद्धि परमावश्यक है। वर्णमाला को यौगिक भाषा में मातृका कहते हैं। इन्हें अक्षर भी कहते हैं क्योंकि इनका नाश कभी भी नहीं होता।

श्री सिद्धसेनसूरि विरचित “सिद्ध मातृका-भिध धर्म प्रकरण” के ६२वें श्लोक में कहा गया है—

सिद्धान्त तर्क श्रुत शब्द विद्या-
वंशादि कंद प्रतिम प्रतिष्ठान्।

अनादि—सिद्धान् सुमनः—प्रबन्धैः,

वर्णान् महिष्यामि जगत्प्रसिद्धान् ॥६२॥

सिद्धान्त, तर्क, श्रुत, शब्द एवं विद्याओं रूपी वैशो के आदि कन्द रूप में प्रतिष्ठित अनादि

सिद्ध एवं जगत्प्रसिद्ध वर्णों की मैं श्लोकरूप पुण्यो से अर्चना करता हूँ।

यह मातृका अनादि है, अनन्त है।

कहा गया है “न विद्या मातृका परा” (स्वच्छन्द तंत्र) अर्थात् मातृका से परे कोई विद्या नहीं है”।

इसे मातृका कहने का यह कारण है कि— यह बुद्धिमान पुरुषों के ज्ञानमय तेज का जनन, परिपालन एवं विशोधन करती है अतः इसका माता के समान महत्त्व है। माता नानाविध कष्टों को सहनकर अपनी संतान को स्वहित, परहित, इहलोक एवं परलोक के लिए तैयार करती है। मातृका भी ज्ञान—विज्ञान का बीजरूप बन संसार की बद्ध एवं मुमुक्षु आत्माओं को अपनी अपनी भावनाओं के अनुरूप फलप्रदा होती है। श्री सिंहतिलकसूरि विरचित “मंत्र राज रहस्य” में लिखा है—

षोडश चतुरधि विंशतिरष्टौ नाभौ दलानि हृदिमूर्त्तिः।
आद्यं हान्तं वर्णाः शरदिन्दु कला नमःप्रभवाः

॥४४५॥

अर्थात् बिन्दु एवं कला में से उत्पन्न अ से ह पर्यन्त के वर्णों में से क से म तक २५ व्यञ्जन, अ से अः तक के १६ स्वर, एवं य से ह पर्यन्त के ४ अन्तस्थ, एवं चार ऊष्म आ जाते हैं। भूमिति शास्त्र के सिद्धान्तानुसार बिन्दु में से रेखा बनती है, एवं रेखा में से वृत्त। यह रेखा कला की प्रतीक है।

संसार की समस्त भाषाओं की चित्रात्मकता बिन्दु एवं कला पर ही आधारित है। बिन्दु और कला के योग से जो भाव आकार ग्रहण करता है, उसकी अनुगुंज नाद है, जो अपने ध्वनि-सामर्थ्य से संसार के त्रिगुणात्मक रूप में संक्षोभ पैदा कर, तदनुसार तरंग चक्र का निर्माण कर, साधक की भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है।

बिन्दु, कला एवं नादमय यह वर्ण ही सिद्ध है और मंत्रों में बीजाक्षर वन महत्त्वपूर्ण बनता है।

वर्णों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे यस्तन्न वेद किमृचा करिष्याति

य इत्तद्धिदुस्त इमे समासते ।

ऋग्वेद १।९६४।३६

अर्थात् ऋचाएं परम अविनाशी शब्दमय अक्षर में ठहरी हैं, जिन में देवता अर्थात् शब्द के विषय (अर्थ) ठहरे हैं। जो अक्षरार्थ को नहीं जानता है, वह ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त करेगा ?

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने भी वर्णों का, या वर्णमातृका का, बड़ा महत्त्व प्रतिपादित किया है। वे ब्रह्मज्ञान के लिए वर्णज्ञान को परमावश्यक मानते हैं।

वर्ण-ज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।
तदर्थमिष्टेबुद्धयर्थे लघ्वर्थे चोपदिश्यते ॥

महाभाष्य १।१२

शैव तंत्र में ६४ कलाओं का प्रतिपादन किया गया है तो पाणिनीय शिक्षा में भी “त्रिषष्टि चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः” अर्थात् शैव तंत्र के अनुसार वर्ण ६३ या ६४ हैं।

जैनागम का हृदय-बिन्दु सिद्धचक्र भी वर्णमाला का शाश्वत समुदाय है, एवं ऋषिमण्डल स्तोत्र में भी इसी सिद्ध वर्ण की उपासना समं-कित है।

इन वर्णों का प्रत्येक का अपना एक आकार एवं अर्थ है जैसे—

अ-नहीं ।	आ-अच्छी तरह ।	इ-गति ।
उ-और ।	ऋ-गति ।	लृ-गति ।
क-सुख ।	ख-आकाश ।	ग-गति ।
च-पुनः ।	ज-उत्पन्न होना ।	झ-नाश ।
त-पार ।	थ-ठहरना ।	द-देना ।
ध-धारण करना ।	न-नहीं ।	प-रक्षा करना ।
भ-प्रकाश करना ।	म-नापना ।	य-जो ।
र-देना ।	ल-लेना ।	व-गति ।
स-साथ ।	ह-निश्चय अर्थ ।	

तीर्थंकर २४ हैं, उन्हें हृदय-कमल के २४ दल माना जा सकता है, एवं २५ वा ‘म’ कर्णिका में हैं। इसे प्रकारान्तर से यों भी कहा

जा सकता है कि क से म पर्यन्त २४ व्यञ्जन हैं एवं कर्णिका का 'म' अनुनासिक है, जो इन २४ दलों में अनुगुंजित है।

योग शास्त्रानुसार नाभिकमल में १६ पत्र हैं, जो १६ स्वर रूप में प्रकाशमान हैं। स्वयं राजन्ते इति स्वराः अर्थात्—वे स्वयं प्रकाशमान हैं, सिद्ध हैं, एवं व्यञ्जनात्मक प्रकाशमान—दृश्यमान संसार का आधार है। इन स्वरो के बिना व्यञ्जन अपूर्ण हैं, अनुच्चरणीय हैं।

वैसे ही मुख में अष्टदल कमल है, जो अन्तस्थ एवं ऊष्म रूप में (य-र-ल-व-श-ष-स-ह) वर्णमालामें प्रसिद्ध है।

इस वर्णमाला को शाश्वत—ज्ञान का प्रतिक माना जाता है, एवं यह प्राणी—मात्र के लोक-निर्माण तथा परलोक—साधना में आधारभूत है।

इसकी साधना के बल पर ही श्रुतसागर में अवगाहन किया जा सकता है। इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए योगशास्त्र के अष्टम प्रकाश में यह उल्लेख किया गया है कि—

इमां प्रसिद्ध सिद्धान्त—प्रसिद्धाम् वर्णमातृकाम् ।
ध्यायेद् यः स श्रुताम्भोधेः पारं गच्छेच्च तत्कलात् ॥

अर्थात् जो ज्ञानी पुरुष इसी वर्णमातृका का ध्यान करता है वह अवश्य ही श्रुतसागर का पार पा सकता है।

यही वर्णमाला या मातृका मंत्रशास्त्र, तंत्रशास्त्र, तथा योग शास्त्र का मूल बीज हैं।

“ॐ नमः सिद्धम्” में इसी सिद्ध पद की उपासना, अर्चना एवं वन्दना की गई है।

“ॐ क्या है ? यह अ, उ, म् आदि तीन वर्णों से बना है ?

यह 'अ' वर्णमाला का प्रधान या बीजाक्षर है। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है :—

“सर्वमुख स्थानं वर्णमित्येके” * अर्थात् मुख—उच्चारित सभी वर्णों में केवल एक 'अ' ही प्रधान है।

समस्त शब्द—समूह, और समस्त ध्वनि समूह, स्थान—प्रयत्न भेद से उसी एक आकार का ही रूपान्तर है।

यही आकार प्रत्येक उच्चारण में उपस्थित रहता है, एवं बिना उसकी सहायता के न तो कोई वर्ण कहते बनता है, एवं न उसे समझा ही जा सकता है।

यह 'अ' अपने प्रबल अस्तित्व के कारण अन्य वर्णों का अभाव एवं अपनी पूर्णता सूचित करता है, अतः यह बिन्दुरूप है।

सभी वर्णों को यह स्तम्भ बन स्थायित्व प्रदान करता है, एवं दण्डरूप में उनका नियमन करता है, यह उसका कला रूप है।

इसी कलामय रूप से यह हलन्त अथवा अपूर्ण वर्णों को उच्चारणों में सुकर करता है, अतः यह उसका नादात्मक कार्य है।

एक ही वर्ण में बिन्दु कला एवं नादरूप ब्रह्म की त्रिविधात्मिका शक्ति सन्निविष्ट है।

यही 'अ' प्रधान है, प्रमुख है, प्रथम है, एवं अनादि, अनन्त तथा अमृतरूप भी है।

श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया है—
“अक्षराणामकारोस्मि” अर्थात् “अक्षरों में मैं अकार हूँ।

*अकारादेव सर्वेषामक्षराणां समुद्रावः । स्थान प्रयत्नादि भेदेन, स्याद्विशेषः प्रकाशते ॥ अर्हदगीता २६।४

ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत भेद से यह स्वयं तीन प्रकार का है, जो क्रमशः सत्त्व, रज एवं तमो गुणों का प्रतीक है।

इसका अर्थ सब, कुल, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, निषेध, अभाव आदि होता है और ये सब अनादिसिद्ध पुरुष के गुण अथवा विशेषण हैं।

यह कंठ से उच्चरित है जो नादका—केन्द्र-स्थान है।

‘उ’ पांचवाँ स्वर है, जो पंच भूतात्मक संसार का रूप अपने में समाविष्ट करता है।

इसमें दो वलय हैं, एक ऊपर का, एवं दूसरा नीचे का, दोनों के बीच में एक बिन्दु है। ऊपर का वलय उर्ध्व लोको का, एवं नीचे का वलय संसार का प्रतीक है। बीच का बिन्दु यह बताता है कि ब्रह्म की बिन्दु रूपात्मक आकृति से ही द्विभावात्मक संसार का सर्जन होता है।

संगीत में पंचम स्वर प्रमोद एवं हर्ष का सूचक माना जाता है, अतः पंचम स्वर होने के कारण यह उ भी प्रमोद एवं हर्ष का सूचक है।

यह पंच परमेष्ठियों का भी अनुव्यञ्जन करता है, एवं पंचम होने के कारण पाँचों में सर्वोपरि अरिहंत का रूप है।

यह ‘उ’ अत्+डु धातु—प्रत्यय से बना है, जिसका अर्थ होता है ‘सतत गमन’।

अर्थात् यह व्यक्ति को सतत गतिशील बनाता है, एवं अ—अव्यक्त की ओर “चरैवेति चरैवेति”—“चलते रहो, चलते रहो” (ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ) का संदेश देता है।

यह उ पुष्टिदाता भी है, एवं मुक्तिदाता भी।

म वर्णमाला का २५ वाँ अक्षर है, एवं अनुनासिक है।

यह हृदयकमल की कर्णिका में स्थित है। इसकी आकृति, बिन्दु एवं कलामय है एवं आहत से अनाहत की ओर बढ़नेवाला है। इसके चन्द्र एवं बिन्दु, सूर्य एवं चन्द्र के प्रतीक माने जा सकते हैं।

इसके चारों ओर स्थित २४ दलों में क से म पर्यन्त २४ वर्ण हैं, जो जैनों के २४ तीर्थंकर, हिन्दुओं के २४ अवतार, एवं बौद्धों के २४ बुद्धों के प्रतीक माने जा सकते हैं।

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार “कादयो मान्ता स्पर्शाः” अर्थात् ‘क’ से लगाकर ‘म’ पर्यन्त वर्ण स्पर्श हैं।

दार्शनिक भाषा में स्पर्श का अर्थ है इन्द्रिय-संवेद्य वस्तु। इस प्रकार ‘म’ दृश्यमान संसार का प्रतीक हुआ।

अ का अर्थ है अतीन्द्रिय जगत्, एवं उ का अर्थ है सतत गमन।

अब पूरे ॐ का अर्थ हुआ इन्द्रिय—संवेद्य ज्ञान से अतीन्द्रिय जगत् की ओर सतत गमन करवानेवाली बीज वस्तु।

अर्थात् दृश्य एवं अदृश्य, संसार का आदि एवं अन्त, इसी में व्याप्त है यानी यह ब्रह्मस्वरूपी है।

अ से प्रारम्भ, उ से गमन, एवं म में मापन, क्योंकि म् मा (मापना) धातु का प्रतीक है।

माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है “ यह अध्यक्षर रूप परमात्मा त्रिमात्रिक ऊँकार है ।”

अ कार; उ कार एवं म कार इसके तीन पाद हैं, और ये पाद ही मात्राएँ हैं ।

प्रथम मात्रा अ कार सर्वव्यापक और आदि होने के कारण जागृत अवस्था की द्योतक है द्वितीय मात्रा उ कार श्रेष्ठ और द्विभावात्मक होने से स्वप्न अवस्था, एवं तृतीय मात्रा म कार मापक और विलीन करनेवाली होने से सुषुप्ति अवस्था की द्योतक हैं ।

ये ही तीन मात्राएँ क्रमशः विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ नामक तीन चरणों की द्योतक हैं ।

मात्रा रहित ऊँकार अव्यवहार्य, प्रपंचातीत एवं कल्पनारूप है यही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है ।

तांत्रिक परिभाषा में विन्दुनवक अर्द्धमात्रारूप है । यह ऊँकार त्रिमात्ररूप है, इसलिए जैनागमों में ऊँ के प्रणिधानपूर्वक नवपद की आराधना अनिवार्य बताई गई है ।

नव पद, सिद्धचक्र का रुढि-प्रयुक्त नाम है । ‘प्रयोग क्रम दीपिका’ में कहा गया है :-
अकारो भूरुकारस्तु भुवो, मार्ण स्वरीरितः ॥११॥

अर्थात् अ, उ, म् में भूः, भुवः, स्वः तीनों का समावेश हो जाता है । ऊँकार को प्रणव भी कहते हैं । शिव पुराण में कहा गया है—

“नूतनं वै करोतीति प्रणवं तं विदुर्बुधाः” ।

नित्य नवीनता उत्पन्न करनेवाला होने से पण्डित-जन इसे प्रणव कहते हैं ।

प्रणव का अर्थ है—प्रकृति से उत्पन्न हुए संसार के लिए यह नौ=नौका रूप है । अथवा

प्र=प्रपंच न=नहीं है वः=तुम में अर्थात् आत्मा में कोई प्रपंच नहीं है, एवं उसका सदैव स्मरण आत्मा के रहे—सहे कलुष को भी समाप्त कर देता है ।

श्री पंच परमेष्ठि वाचक यह ऊँकार अ+अ +आ+उ+म् आदि ५ वर्णों के योग से बना है ।

जिन्हें क्रमशः अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु का प्रतीक कह सकते हैं । यह परमेष्ठी-भगवन्तों का एकाक्षरी मंत्र है । ‘पंचनमस्कृतिदीपक’ नामक ग्रंथ में पूज्यपाद समन्तभद्रसूरि ने इसकी महिमा इस प्रकार गई है कि—

“श्वेत वर्ण से ध्यान करने से यह ऊँ शान्ति, तुष्टि, पुष्टि आदि प्रदान करता है, लाल वर्ण से ध्यान करने से यह वशीकरण करता है, एवं कृष्ण वर्ण से ध्यान करने से शत्रु का नाश, तथा धूम्र वर्ण के ध्यान से यह स्तम्भन करता है ।”

‘नमः’ में चार वर्ण एवं एक विसर्ग है, जिनके अर्थ है न्-नहीं, अ-अभाव, म्-नापना, अ-पूर्णता, विसर्ग-विशिष्ट सृष्टि यानि सचराचर सृष्टि की पूर्णता के गायन-मूल्याङ्कन में अपूर्णता नहीं होनी चाहिए ।

सचराचर सृष्टि का भौतिक प्रतीक वर्णमातृका है एवं परा प्रतीक ‘अर्ह’ है जो मातृका का साररूप है ।

वेदों में कहा गया है “तन्नम इत्युपासीत” अर्थात् “वह नमः ही है उसकी (अर्ह) उपासना करो ।” नमः की छन्द शाखानुसार तीन मात्राएँ प्रणव की त्रिमात्रता की सूचक हैं ।

त्रिमात्र का अर्थ है संसार अर्थात् नमने-वाले को संसार की सभी वस्तुएँ आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं।

ये न और म दोनों अनुनासिक है, एवं विसर्ग प्राणध्वनि है। ये दोनों प्राणायाममय हैं। विसर्ग का उच्चारण—स्थान नाभि है। प्राणायाम में नाभि नीचे का अंग, एवं नासिका उर्ध्व अंग माना जाता है।

इस प्रकार यदि 'नम्' को नासिकादि उर्ध्व अंगों, एवं विसर्ग को नाभि आदि अधो अंगोंका प्रतीक माना जाय तो यह शरीर के द्रव्य—संकोच का प्रतीक हो जाता है।

साथ में यदि आन्तरिक भावनाओं का भी संकोच कर दिया जाय तो यह भाव—संकोच का प्रतीक बन जाता है, यही योगरूप है क्योंकि वह भी तो चित्तवृत्तियों का विरोध—नियमन ही है—“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः”।

'नम्' धातु से 'नमः' बना है, जिसका अर्थ है झुकना, अर्थात् यह नम्रता, विनय एवं सरलता का प्रतीक है।

हिंसी के गुणों को हम नीचे झुक कर या शिष्यत्व ग्रहण कर ही ले सकते हैं।

पाणिनीय व्याकरण की “नमः योगे चतुर्थी” की दार्शनिक व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि नमः से चतुर्थी अवस्था मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष की पूर्वावस्थाएँ धर्म, अर्थ, काम आदि तो सहज ही प्राप्त होती हैं। तो नमः यह बताता है कि सिद्धत्व की प्राप्ति करने के लिए सिद्ध को नमस्कार करो।

नमः का विलोम मनः है, 'मन' संसार का प्रतीक है, तो नमः मोक्ष का प्रतीक है। मन से चलोगे तो बन्ध होगा, एवं उसके विपरीत चलोगे तो मोक्ष होगा—“मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।”

नमः अष्टांग योग का प्रतीक है। आठों ही अंगों का जब हम द्रव्य—भाव रूप से संकोच करते हैं, तभी किसी को नमस्कार होता है। ये आठों अंग अ वर्गादि श वर्ग पर्यन्त आठों वर्णों के प्रतीक हैं, जिनका न्यास ऋषिमण्डल स्तोत्र में शरीरांग में किया गया है :—

आद्यं पदं शिखां रक्षेत्, परं रक्षेत् तु मस्तकं,
तृतीयं रक्षेत् नेत्रे द्वे, तुर्यं रक्षेत् च नासिकां;
पंचमं तु मुखं रक्षेत्, षष्ठं रक्षेत् च घण्टिकां,
नाभ्यन्तं सप्तमं रक्षेत्, रक्षेत् पादान्तमष्टमम्

॥ ६-८ ॥

नमः पद सर्वोत्कृष्ट शरणागति का सूचक है, क्योंकि जिसे नमस्कार किया जाता है उसकी शरण का स्वीकरण होता है। उसमें शरीरांग एवं—आत्म प्रदेशों का समर्पण है। इस प्रकार “ॐ नमः सिद्धम्” का अर्थ हुआ (मैं) अ—उ—म् व्यक्त संसार से अव्यक्त सिद्ध पद (ब्रह्म) की ओर गमन करने के लिए सर्व समर्पणपूर्वक सिद्ध पद वाचक अहं की शरण स्वीकार करता हूँ।

अब रही 'सिद्धम्' की बात। अ से क्ष पर्यन्त पचास वर्ण सिद्धरूप में प्रसिद्ध हैं, उनका ही चक्र (समुदाय) सिद्ध—चक्र कहा जाता है—

“अकारादि क्षकारान्तानां पञ्चाशत् सिद्धत्वेन प्रसिद्धानां यच्चक्रं समुदायस्तत् सिद्धचक्रम् ।

सिद्धहेम शब्दानुशासन वृ. वृ.

इनमें एक चन्द्र बिन्दुँ भिला दिया जाय तो ये ५१ हैं । शरीर में इक्यावन ही शक्ति-पीठ हैं और मातृका न्यास भी तदनु रूप ही होता है, इसीलिए सिद्ध चक्र एवं ऋषिमंडल यंत्र की आकृति पुरुषाकार है ।

ये वर्ण ही मातृका हैं, एवं इनके पठन, पाठन, स्मरण तथा विचिन्तन का फल योगशास्त्र में इस प्रकार बताया गया है:—

ध्यायतोऽनादि—संसिद्धान् वर्णानितान्यथा विधि ।
नष्टादि विषयं ज्ञानं ध्यातुरूपघते क्षणात् ॥५॥

अर्थात् अनादि काल में भली प्रकार से सिद्ध वर्णों का यथाविधि ध्यान करते हुए ध्याता को नष्टादि विषयक ज्ञान अल्प समय में उत्पन्न होता है । सारस्वत व्याकरण में “सिद्धो वर्णः” कह कर वर्ण का सिद्ध स्वरूप बताया गया है । इन्हीं सिद्ध वर्णों में समग्र ब्रह्ममय संसार व्याप्त है—

या सा तु मातृका लोके पर तेजः समन्विता ।
तया व्याप्तमिदं सर्वमा ब्रह्म भुवनान्तरम् ॥

ब्रह्म के दो रूप हैं एक “शब्द ब्रह्म” एवं दूसरा “अर्थ ब्रह्म” । सृष्टि भी दो प्रकार की है—शब्दमयी एवं अर्थमयी । इस प्रकार सिद्ध वर्ण के दो रूप हुए—पदमय एवं पदार्थमय ।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में लिखा है “अर्थवन्तो वर्णाः” अर्थात् प्रत्येक वर्ण अर्थ-

वान होता है । इसी अर्थ में समग्र संसार का ज्ञान—विज्ञान सिद्धपद निहित है ।

वर्णमातृका को लिपिमयी देवी भी कहते हैं, यह वर्णमातृका का लौकिक रूप है । सूत संहिता के टीकाकार माधवाचार्य ने तात्पर्य दीपिका में लिखा है कि—

मातृका का पररूप परा और पश्यन्ती से परे बिन्दु नादात्मक है ।

वर्णमातृका सृष्टि का लौकिक रूप है और इसमें अकार से हकार पर्यन्त समस्त वर्णों का पाठ हो जाता है और यही ‘अहं’ सूक्ष्म से लेकर स्थूल पर्यन्त अखिल सृष्टि का वाचक है । ‘अहं’ सांसारिक बन्धन, ममता एवं आवर्त का रूप है ।

इसी मातृका का पर रूप ‘अहं’ है, जो संसार से मुक्ति, वीतरागता एवं माध्यस्थ्य का प्रतीक है क्योंकि इसमें अग्नि बीजरूप रेफ का सन्निवेश है ।

जब व्यक्ति (अहं) अ से ह पर्यन्त सभी सांसारिक वासनाओं एवं इच्छाओं को अग्नि बीज स्वरूप उर्ध्वगत्यात्मक ‘र’ से जला देता है तब वह अहं बन जाता है ।

‘र’ अन्तस्थ है, अर्थात् संसार—नाश की भावना सुप्त अग्नि के रूप में सांसारिक आत्माओं में विद्यमान रहती है, पर भौतिक—आडम्बर में वह लुप्त रहती है तब तक व्यक्ति अहं के रूप में केवल व्यष्टि में ही आविष्ट रहता है ।

जब “अकारादि हकारान्तं” कामनाओं के मध्य उर्ध्वगतिमय रेफात्मक अग्नि बीज का वपन

होता है तो वही साधारण आत्मा अर्ह बन जाती है ।

यही अर्ह पर रूप मातृका का सार है ।

‘ॐ नमः सिद्धम्’ में पर रूपमातृका के सारभूत इसी अर्ह की उपासना है । श्री सिद्धचक्रयंत्रोद्धार पूजन विधि की प्रथम चौबीशी में इसी भाव की पुष्टि की गई है :—

“अर्हमात्मानमो अग्निशुद्धं, मायामृत प्लुतं, सुधा कुम्भस्थ माकण्ठं, ध्यायेच्छान्तिक-कर्मणि” ॥२४॥

अर्हद्गीता में भी कहा गया है—

रेफोग्निबीजं प्रकृतिर्विसर्गस्य निसर्गति ॥
॥३३।१६ ॥

ऋषिमण्डल स्तोत्र में भी कहा गया है—

आद्यन्ताक्षर संलक्ष्य—मक्षरं व्याव्य यत् स्थितम् ।
अग्निज्वाला समं नाद बिन्दु रेखा समन्वितम् ॥१॥

अहं मनोमल का प्रतीक है, और अर्ह मनोमल का विशोधक है ।

‘अहं’ का अर्थ है ‘शरीर संज्ञानी’, तो अर्ह का अर्थ है ‘आत्म संज्ञानी’ ।

अहं यदि ‘व्यष्टि’ है तो अर्ह ‘समष्टि’ है ।

अहं ‘जीव’ है तो अर्ह ‘शिव’ ।

अर्ह अहं का प्रतिपक्षी है । यही अर्ह ‘ब्रह्म’ है, परमेष्ठि का वाचक है, वर्णमातृका रूप सिद्धचक्र का बीज है—

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म वाचक परमेष्ठिनः ।

सिद्ध चक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणिदध्मेह ॥३॥

ऋषिमण्डल स्तोत्र

सिद्धम् में पाँच वर्ण हैं सू+इ+द्+ध्+अं, एवं मात्रा ४ हैं । ये पाँच वर्ण भी पंच परमेष्ठियों के सूचक हैं, एवं ४ मात्राएँ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को देनेवाली हैं ।

यह ‘सिद्ध’ शब्द अर्ह का वाच्य है ।

[मंत्र को प्राणवान्, चैतन्यवान् एवं फलदायी बनाने हेतु उसमें सृजन शक्ति का समावेश करना अत्यन्त आवश्यक होता है ।

ह पुरुषाकार है, तो ‘अ’ प्रकृति रूप; ये दोनों मिलकर अहं बनते हैं और जब तत् पुरुष तथा प्रकृति का भाव रहेगा तब तत् सृष्टि में कर्मों का सर्जन होता रहता है । जब अग्नि बीज र के द्वारा पुरुष तथा प्रकृति का भेद समाप्त कर दिया जाता है, तब आत्मा का अहं रूप अर्ह बन जाता है]

यही ‘अर्ह’ नवपद सिद्धचक्र का बीज रूप है जो जैनागम में विशुद्ध ज्ञान मार्ग का प्रतीक है । श्री सिद्धचक्र के पूजन के द्वितीय वलय में अवर्ग से अ आदि १६ स्वर, क वर्ग से पर्यन्त २५ व्यञ्जन, ४ अन्तस्थ, ४ ऊष्माक्षर तथा एक अनाहत नाद की अर्चना की गई है ।

उसके दूसरे मंत्र इन्हीं वर्णों की विविधात्मिका व्याख्या है यह ‘अर्ह’ ही दूसरे मंत्रों में वर्णमाला के आकार को ग्रहण कर व्याप्त है ।

यह अर्हँ प्राणायाम—मय है, इसका प्रथमाक्षर अ पूरक है, ह रेचक है, एवं म कुम्भक है। म को बिन्दु रूप में भी व्यक्त करते हैं। यह बिन्दु सभी प्राणियों के नासाग्र भाग में स्थित है, एवं योगियों द्वारा चिन्तनीय है। श्री सिद्धचक्र यंत्रोद्धार पूजन—विधि में इसकी पुष्टि की गई है —

आह्वानं पूरकेणैव, रेचकेन विसर्जनम् ॥२२॥

तो यह स्पष्ट हुआ कि सिद्धचक्र जिसको नवपद भी कहते हैं, सिद्ध वर्णों का समुदाय है, जिसके मूल में अ से ह पर्यन्त तेजोमय अर्हँ स्थित है।

ॐ ह्रीं स्फुटानाहत मूल मंत्रं,
स्वरैः परीतं परितोऽस्ति सृष्ट्या ॥
यत्रार्हमित्युज्ज्वलमाद्यबीजं,
श्रीसिद्धचक्रं तदहं नमामि ॥

तांत्रिक भाषा में जिसे बिन्दु नवक कहते हैं, उसे बिन्दु, अर्द्धेन्दु, निरोधिनी, नाद—नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना उन्मना, समाहित हैं।

आगमिक भाषा में इसे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, दर्शन, ज्ञान चारित्र एवं तप अर्थात् नवपद की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। मांत्रिक भाषा में से इसे स्वर (अ वर्ग) क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, अन्तस्थ ऊष्म एवं क्ष वर्ग कह सकते हैं। कहा गया है—

“ ननु क्षकारेण सह नव वर्गाः ”
(तंत्रालोक ६ अध्याय)

श्री सिद्धचक्र यंत्र आकृत्यात्मक है, एवं उसकी स्थापना पिण्डस्थ रूप में की गई है।

उस पिण्डस्थ रूप में वर्णमाला का ध्यान करना पदस्थ ध्यान कहलाता है।

पदस्थ ध्यान का मूल अथवा सार “अकाराद्यं हकारान्तं बिन्दु रेखा समन्वितं” अर्हँ है।

श्री जयसिंहदेवसूरि विरचित धर्मोपदेशमाला विवरण में अर्हँ रूप सिद्ध-मातृका का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है—

“अकारादि हकारान्तं प्रसिद्धा सिद्धमातृका”

इस—सिद्ध मातृका की अपनी एक लिपि है, जिसका न्यास मंत्र जपादि में प्रत्येक साधक के करना चाहिए।

जपादौ सर्वमंत्राणाम् विन्यासेन लिपेर्विना ।
कृतं तन्निष्फलं विद्यात् तस्मात् पूर्वं लिपिं न्यसेत् ॥

अनादि सिद्ध मातृका को पद भी कहते हैं। पद वाचक है एवं उसका अर्थ वाच्य है।

अर्हँ पद परमेष्ठी भगवान का वाचक है, एवं पंच परमेष्ठी उसके वाच्य हैं।

संसार के समस्त पदार्थों के साक्षात्कार हेतु अर्हँ पद की उपासना, शरण एवं प्रतिष्ठापना आवश्यक है। अर्हँ के तीन पद अ = उत्पाद, र = व्यय, एवं ह = प्रौव्यात्मकता के प्रतीक हैं।

‘अ’—अव्यक्त होने से बिन्दु रूप है, ‘र’—कलात्मक है, एवं ‘हं’ की गूँज नादात्मक है।

‘अर्हँ’ का व्याकरण शास्त्रानुसार अर्थ है “योग्य”। अर्हँ जब तप की पावन अग्नि में हं की हुंकृति को भस्म कर देता है, तब वह अ — अशेष यानी सम्पूर्ण बन जाता है।

“ॐ नमः सिद्धम्” में इसी अर्ह^० का पदस्थ ध्यान है।

इसीलिए तो कहा गया है “एकः शब्दः, सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवतीति।” (पातंजल महाभाष्य)

यह अर्ह^० रूप सर्वज्ञ परमात्मा स्याद्वाद शैली से मूर्त, अमूर्त, कला सहित, सूक्ष्म, स्थूल व्यक्त, अव्यक्त, निगुण, सगुण, सर्वव्यापी, देश-व्यापी, अक्षय, क्षयवान्, अनित्य एवं नित्य आदि १६ प्रकार के हैं, एवं नाभिकमल के १६ दलो के प्रतीक है।

इसी अर्ह^० के रूपों के यदि युग्म बना दिए जाय तो वे मूर्त-अमूर्त, अकला-सकला, सूक्ष्म-स्थूल, आदि आठ युग्म बनेंगे जिन्हें मुख के अष्ट दल कमल की संज्ञा देंगे।

अर्ह^० की चार मात्राएँ हैं जिसमें नाद, बिन्दु एवं कला से परे ‘ब्रह्म’ का तुरीय रूप भी समाविष्ट है। इसकी चारों मात्राएँ धर्म, अर्थ, काम, एवं मोक्ष को प्रदान करनेवाली हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि ‘ॐ नमः सिद्धम्’ में जिस सिद्ध की उपासना की गई है वह आद्य ज्ञान का उद्घाटक, उद्घोषक एवं प्रकाशक वर्ण है।

समग्र संसार वर्णमय है, एवं वर्ण में ही संसार समाया हुआ है।

वर्ण का अर्थ है वः—तुम, न-नहीं हो अर्थात् सब में मैं ही हूँ और यह निज स्वरूप ही आगे जिन स्वरूप में परिणत होता है। इस व्युत्पत्ति से वर्ण अभेदात्मक संसार का प्रतीक है, एवं

अर्ह^० उसका वाच्य-वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ, अनु-मेयार्थ एवं प्रमेयार्थ है।

यही अक्षर है, क्योंकि यह त्रिकालाबाध है। यही अव्यय है, क्योंकि यह नाश को प्राप्त नहीं होता और यही अमृतरूप है, इसकी विद्या से ही अमरत्व की प्राप्ति होती है—

“विद्ययाऽमृतमश्नुते” (उपनिषद्)

नामृतं ज्ञानतः परम् (अर्हद्गीता ३-६)

यही पद एवं उसकी ध्वनि मंत्रशास्त्र का प्राण है।

क्योंकि यही ध्वनि प्राणवायु को लेकर मनुष्य की चारों ओर एक तरंगमाला का निर्माण करती है, जिसके अनुसार संसार परिणमित होता है। इसे दार्शनिक भाषा में तदाकार वृत्ति कहते हैं, एवं इसकी प्राप्ति “ॐ नमः सिद्धम्” की उपासना से आसानी से की जा सकती है।

“ॐ नमः सिद्धम्” का समग्र मंत्र ज्ञान का प्रतीक है, एवं ज्ञान-प्राप्ति हेतु यह मंत्र है।

अर्हद्गीता में कहा गया है कि “नामृतं ज्ञानतः परम्” अर्थात् ज्ञान से परे कोई अमृत नहीं है।

इसी ज्ञान से धर्म, दान, तप चारित्र एवं करुणा मुदितादि भावना का प्रादुर्भाव होता है। अन्ततः इसी ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति होती है।

‘ॐ नमः सिद्धं’ का अर्हद्गीता में इस प्रकार विवेचन किया गया है :—

“जीवाजीवमयो लोकः कर्ताऽयं परमेश्वरः।

स्वरूपस्य स्वयं धर्ता, सिद्धः शुद्ध सनातनः॥”

“दुग्धे सारं यथा सर्पिः, पुष्पे परिमलस्तथा ॥
तथा लोकेऽपि चैतन्यं । तस्मिन् कैवल्यमुत्तमम् ॥”

२०-८

इसी सिद्ध-पद को समझाते हुए अर्हद्-गीता में आगे कहा गया है कि—

“ सर्वसंगविनिर्मुक्तः, सिद्ध-केवल-बोधनात् ।
स एव परमेष्ठीति, गेयोऽर्हं तात्त्विकैः जनैः ॥१॥”

“ तेनैव मातृका-पाठेऽपि

ॐ नमः सिद्धमुच्यते” ॥२॥

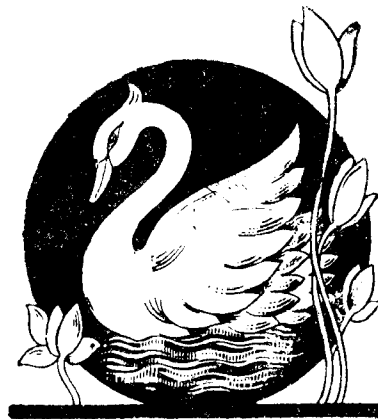
अर्थात् सभी प्रकार के संग से रहित केवल ज्ञान के कारण इसी सिद्ध की ही परमात्मा, परमेष्ठी या अर्हं के रूप में तत्त्वविद् जनों को उपासना करनी चाहिए ।

मातृका पाठ में उसे ही “ ॐ नमः सिद्धम् ” कहा गया है । “ ॐ भी सिद्ध का वाचक है । “ ॐकारः सिद्ध-वाचकः ” (अर्हद्गीता २५।६)

अतः सभी साधकों को सिद्ध पद की ओर बढ़ने के लिए “ ॐ नमः सिद्धम् ” की उपासना करनी चाहिए, जिसका बीज अर्हं है । श्री अर्हद्गीता में प्रत्येक वर्ण का सविस्तर विवेचन किया गया है, एवं उन सब में गूढार्थों का सन्निवेश प्रदर्शित किया है ।

छन्दशास्त्रानुसार गणों का (न गण, भ गण, स गण, आदि) भी सविस्तार विवेचन उसमें हुआ है ।

ॐ शब्द, नमः शब्द, एवं सिद्ध शब्द की विविधात्मिका व्याख्या अर्हद्गीता में की गई है, जो इस ॐ नमः सिद्धम् के विवेचन से भी एक बृहत् विवेचन है । यहाँ उसके विवेचन को अधिक उद्धृत इसलिए नहीं किया कि मेरा यह विवेचन तो उसकी पुष्टि के लिए एक परिशिष्ट मात्र है ।





ऋतं सत्यं च-

ॐ अर्हं—तात्त्विक रहस्य
वैदिक ऋचा का समन्वयात्मक रहस्य
ले. सोहनलाल पटना



दृश्य एवं अदृश्य इस संसार में एक स्थायी व्यवस्था है, जिसके कारण इसकी प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है। इस व्यवस्था के कारण ही सृष्टि में गत्यात्मकता दिखाई पड़ती है, एवं सत्य के कारण ही गत्यात्मकता में भी उसका ध्रौव्य पद विद्यमान रहता है।

प्रकृति अथवा संसार की व्यवस्था की जो सतत् प्रक्रिया चल रही है, उसके मूल में कोई शक्ति अवश्य है—ऐसा विज्ञान भी मानता है।

नास्तिक उसे केवल व्यवस्था कहकर ही चुप हो जाता है, पर वेदों में इस व्यवस्था को 'ऋत' नाम से अभिहित किया गया है। ऋत शब्द में ऋ (गमनादि) धातु है, एवं त् प्रत्यय है।

ऋत का शास्त्र—सम्मत अर्थ है सृष्टि का धारक तत्त्व, ईश्वरीय नियम, ब्रह्म, आदित्य, कर्मफल।

इसके इन अर्थों में भारत के सभी दर्शनो को अपना शास्त्र—सम्मत अर्थ मिल जाता है।

सांख्य और योग इसे सृष्टि का धारक तत्त्व कहेंगे तो न्याय इन्हें ईश्वरीय नियम कहेगा।

वेदान्त ब्रह्म कहेगा तो वैशेषिक एवं मीमांसा इसे कर्मफल—दाता कहेंगे।

इसी ऋत से बने शब्दों पर यदि हम विचार करें तो हमें ऋत का स्वरूप समझ में आ जायेगा। जैसे 'ऋ' का अर्थ है देवताओं की माता अदिति एवं 'त्' (त) का अर्थ है युक्त।

देवताओं की माता से युक्त का तात्पर्य है प्रकाशक तत्त्व जो समस्त चराचर सृष्टि के मूल में विद्यमान है, एवं जिसके कारण ही संसार की गत्यात्मकता संसरण—शीलता विद्यमान है। देवता का अर्थ यास्क ने अपने निरुक्त में बताया है—
“देवो दानाद् दीपनाद् वा” प्रकाशित करने के कारण अथवा प्रिय वस्तु देने के कारण देव कहा जाता है।

इसीलिए ऋतम्भर का अर्थ होता है सत्य (अस्तित्व) का धारण—पोषण करनेवाला परमेश्वर!

इसी प्रकार ऋतम्भरा का अर्थ है चराचर सृष्टि! जो 'ऋत' याने परमात्म—तत्त्व से परिपूर्ण है अथवा सदा एक रूप रहनेवाली समाधि की वह मूर्ति जिसमें सत्य का ही धारण होता है और 'ऋति' का अर्थ गति, आक्रमण, मार्ग—मंगल, अभ्युदय, स्मृति, आदि होता है।

इसके ये शब्द परमात्म—तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। 'ऋत' का अर्थ है निश्चित व्यवस्था और 'ऋत' का अर्थ है पुष्ट—वीर्य परमात्मा।

‘ऋद्ध’ का अर्थ समृद्ध होता है, जो परमात्मा का ही एक गुण है और उस से बना ‘ऋद्धि’ शब्द परमात्मा की शक्ति की ओर संकेत करता है ।

‘ऋत-धामा’ शब्द का अर्थ है जगत् की व्यवस्था करनेवाले विष्णु । शिव ऋतध्वज कहे जाते हैं और ब्रह्मा को ऋतवादी एवं ऋतव्रत कहा जाता है ।

तो यह ऋत त्रिदेवात्मक है और इसके उच्चारण भी ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत ऐसे तीन प्रकार के हैं ।

ह्रस्व से संसार की सूक्ष्मावस्था, दीर्घ से स्थूलावस्था एवं प्लुत से रुपातीतावस्था का संकेत लिया जा सकता है ।

इन तीनों अवस्थाओं का पर्यवसान ॐ में किया जा सकता है ।

अब सत्य की बात करें । सत् पद सत्य का आधार है ।

मूलतः सत् अस्तित्व का सूचक है एवं सत्य का वाचक भी । ‘सत्य’ पद को सिद्ध करने के लिए इसमें ‘यत्’ प्रत्यय जोड़ना पड़ता है यह ‘यत्’ सत्य की भव्यता (अस्तित्व) एवं कार्यता का द्योतक है ।

वैदिक-दर्शन में प्रायः सत्य का प्रयोग, कार्य-सत्य के अर्थ में होता है और ऋत के शाश्वत सत्य से उसको पृथक् बताया जाता है ।

सत् का प्रयोग श्रेय के अर्थ में भी होता है । ‘सत्’ मंगलमय भाव व्यवस्था है, सद्भावे साधुभावे सदित्येतत्प्रभुः । सद् का अर्थ शुभ में भी माना जाता है जैसे सद्गति और अच्छे के अर्थ में भी; जैसे सज्जन, सदाचार ।

‘यत्’ के योग से सत्य वर्तमान (अस्तित्व) का ही नहीं वरन् कार्य, अत एव भावि भी है इस अर्थ में वह भव्य (होनेवाला) भी है ।

इसीलिए परमात्मा को परम-सत्य कहते हैं ।

परमाणु की सत्ता से लेकर ईश्वरीय सत्ता तक सत् निवास करता है, अतः यह ध्रौव्यात्मक है । यही ध्रौव्यात्मक परम सत्य शिव है, अर्हम् है इसीलिए कलिकाल आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने ‘ॐ अर्हं’ मंत्र के रूप में सृष्टि के मूल तत्त्व ‘ऋतं सत्यं’ की ध्रौव्यात्मकता एवं शाश्वतता की अभ्यर्चना की है ।

यह ऋत ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वर, शैव-दर्शन में शक्ति एवं जैन-दर्शन में कर्मफल है ।

ऋग्वेद की ४-२१-३ ऋचा में कहा गया है कि —

ऋत सबका मूल कारण है । ऋत से ही मरुत् की उत्पत्ति हुई है । मरुत् वायु का देवता है और प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समा-नादि पंचवायु ही शरीर को गति एवं अस्तित्व प्रदान कर उसे प्रकाशित करते हैं ।

ॐ भी शरीर में व्याप्त है एवं ॐ में शरीर व्याप्त है ।

इसी प्रकार पंच प्राणात्मक संसार में शरीर समाया हुआ है एवं शरीर में पंच प्राण समाए हुए हैं ।

मुद्गलोपनिषद् में कहा गया है —

“ ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्य एवि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेना धातेनाहो-

रात्रान्संदधाम्युतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि
तन्मामवतु । ”

अर्थात्—“ ॐ मेरी वाणी में स्थिर हो ।
हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट
हो ओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे
ज्ञान के आधार हो, अतः मेरे ज्ञानाभ्यास की
रक्षा करो । मैं इस ज्ञानाभ्यास में रात—दिन
व्यतीत करता हूँ । मैं ऋत का उच्चारण करता
हूँ, सत्य का उच्चारण करता हूँ । ”

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि ऋत और
सत्य दोनों अलग अलग हैं । ऋत शब्द का
प्रयोग वेद काल के पश्चात् भौतिक नियमों के
लिए होने लगा और बाद में तो ऋत में आचार
सम्बन्धी नियमों का भी समावेश हो गया ।

ऋग्वेद में उषा, सूर्य एवं पूषा को ऋत का
पालन—कर्ता कहा गया है ।

इस ऋत के परे जाना असम्भव है, क्योंकि
वरुण ऋत के रक्षक है ।

“ ऋतस्त गोपा ” (ऋग्वेद) और द्यौ और
पृथ्वी ऋत पर स्थित है (१०. १२१. १) देव-
ताओं से प्रार्थना की जाती थी कि वे प्राणी-

मात्र को ऋत के मार्ग पर ले चलें व अनृत के
मार्ग से दूर रखें ।

यह अनृत सत्य का विलोम झूठ नहीं था ।
ऋत को सत्य से पृथक् माना जाता था । ऋत
वस्तुतः सत्य का नियामक तत्व है और ऋत के
माध्यम से ही सत्य की प्राप्ति स्वीकृत
की गई है ।

इसीलिए आचार्यश्री ने अर्ह^ॐ के पूर्व ॐ के
उच्चारण की व्यवस्था की । जिस प्रकार परवर्ती
वैदिक साहित्य में ऋत का स्थान सत्य ने ले
लिया, वैसे ही परवर्ती जैन साहित्य में ॐ का
स्थान केवल अर्ह^ॐ ने ले लिया ।

पर शास्त्रीय—परम्परा में आज भी ‘ अर्ह^ॐ ’
का उद्घोष किया जाता है, और ‘ ऋतं च सत्यं
च ’ की भावना का साक्षात्करण कर जगत्
के ध्रौव्य तत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने
की प्रतिज्ञा प्रत्येक कार्य के लिए प्रारम्भ में की
जाती है ।

यह ध्रौव्य पद सिद्ध पद है जिसका नमन
‘ ॐ नमः सिद्धम् ’ में किया गया है ।





बीजाक्षर एवं उनका महत्त्व



लेखकः—प्रशांतयोगी

मंत्र शास्त्र में बीजाक्षरों का बड़ा महत्त्व है। जिस प्रकार ध्वनि—तरंगों इत्थर पर आकाश-मार्ग में निरंतर विचरण करती रहती हैं, एवं हम इच्छानुसार रेडियो के स्टेशनों पर सुई केन्द्रित कर उन तरंगों को सुन सकते हैं। वैसे ही ये बीजाक्षर भी मंत्र की शक्ति को इच्छानुसार फल-प्रदान करने में सहायता देते हैं।

शास्त्र में कहा है:—शब्द—ब्रह्म में निष्णात होने से पर—ब्रह्म की उपलब्धि होती है।*

ब्रह्म—शक्ति शब्दातीत है, एवं यदि इस परा—शक्ति का साक्षात्कार करना है, तो हमें सर्व प्रथम लौकिक मातृका का अध्ययन कर उसमें निष्णात होना पड़ेगा।

तत्पश्चात् हमें वर्ण मातृका के सार एवं उसके परा रूप ॐ अर्ह आदि आद्य बीजों का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

ये ॐ अर्ह आदि समग्र मंत्रशक्ति के सार रूप हैं।

वर्ण मातृका का बाह्य रूप वैखरी रूप है, जो समस्त संसार में व्याप्त है। इसे विश्वविग्रहात्मिका भी कहते हैं, क्योंकि सारा संसार इसमें विजृम्भित हो रहा है उस विश्व के प्रपंचात्मक विग्रह को अपने मानसिक भावानुसार अभि-

केन्द्रित कर इच्छोपलब्धि के लिए तत्पर बनाने हेतु तदनुकूल स्फोट (ध्वनि) पैदा करना होगा।

इस स्फोट—ध्वनि के तरंगाघात से भाव-वलय चक्र उद्भूत होगा।

इन भाव-वलयों के आवर्तों से विपरीत भाव अथवा विघ्न उसी प्रकार दूर होते हैं, जिस प्रकार शक्ति—संचालित नौका—प्रवाह की विपरीत दिशा में आगे बढ़ती रहती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि—बिना बीजाक्षरों के मंत्र फलदायी नहीं होता। “भावना फलतीह सर्वत्र” के शास्त्रवचन के अनुसार भावना से जपा प्रभु का नाम स्मरण भी अतुल फल—प्रदान करता है। प्रभु के नाम को ही मंत्र मानकर भी ऋषियों ने विश्व की समग्र सिद्धियों को प्राप्त किया है।

परन्तु ये बीजाक्षर हमारे जप को सूक्ष्मीकृत कर (Pin Pointed) सामान्य साधक को भी सत्वर फलोपलब्धि करवाने में सहायता देते हैं।

जिस प्रकार दूध स्वयं अमृतमय है, पर उसमें इच्छानुसार अन्य वस्तुओंका मिश्रण कर उसे नए नए स्वादिष्ट पक्वान्तों में परिवर्तित

* शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

किया जा सकता है। वैसे ये सब बीजाक्षर केवल एक ॐ में पर्युषित हैं।

बीजाक्षर क्या हैं? ये हैं वाक्—बीज। वाक् क्या है? सृष्टि का व्यक्त रूप। जैसे वट वृक्ष। और ये बीजाक्षर क्या है? वट वृक्ष के बीज। जिस प्रकार वट के सूक्ष्म बीज में विशाल वट वृक्ष की प्राणवत्ता समाई रहती है वैसे ही इन बीजों में सृष्टि—तंत्र के 'अणोरणीयान्' 'महतो महीयान्' स्वरूप का परिस्पन्दन हो रहा है।

इन बीजाक्षरों में नाद का प्रतीक ॐ आवश्यक रूप से समाया हुआ रहता है।

नाद का स्थान तो नाभिमंडल है, पर यह बिन्दुरूप कंठ के माध्यम से सहस्र—दल कमल में भ्रमरवत् गुंजता रहता है। इसका वैखरी रूप अनुस्वार है जो पंचावयवात्मक है, और मंत्र भी पंचांग होता है एवं प्राण भी पांच ही होते हैं। ङ् ञ् ण् न् म् ये पांच अनुस्वार हैं। इनमें स्वरात्मक अनुस्वार अं तो समाया हुआ ही है।

यह पंचावयवात्मक अनुस्वार रूप नाद हमारी पंच भूतात्मक सृष्टि का नियमन, सन्तुलन एवं स्पन्दन करता है। इन सब का सार अथवा एकी भूत स्वरूप है "अं" एवं त्रिकलात्मक रूप है—

अं इं उं जो गं (गं गं गणपतये नमः) मे अं के रूप में है। इनका तुरीय रूप है विसर्ग ठः ठः स्वाहा।

विसर्ग का व्यक्त रूप है ह जो प्राण ध्वनि है। इससे अग्नि बीज र एवं नाद इं मिलाने पर

यह 'ह्रीं' प्राण रसायण बना यानी ह प्राण बीज, र अग्नि बीज अर्थात् चैतन्य शक्ति और इं गतिनाद। ये सब तत्त्व प्राण शक्ति के लिए अत्यावश्यक हैं। अतः ये प्राण रसायण का काम करते हैं और इनका सूक्ष्मीकृत सूत्ररूप संकेत ह्रीं है।

ॐ बीजाक्षर में अ उ म्—तीन वर्ण हैं जिनका अर्थ है—अ—अव्यक्त, अशेष; उ—उपलब्धि एवं म्—महत्ता। अर्थात् अशेष महत्ता की उपलब्धि यानी सिद्धि—दाता बीज या एकाक्षर मंत्र। मंत्र में तीन बातें होती हैं:—

बीज, मंत्र एवं पल्लव, जैसे—ॐ नमः सिद्धम्

बीज को ध्यानाकर्षण, मंत्र को विशेषण और पल्लव को द्रवण कह सकते हैं।

ये बीज इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए चैतन्य—शक्ति का ध्यानाकर्षण करते हैं। ये ध्यानाकर्षण ही बीजाक्षर—रूप हैं जैसे ऐं। विशेषण पद से अपनी दयनीयावस्था का प्रदर्शन और इष्ट की शक्ति की महत्ता बताते हैं।

एवं द्रवण से कार्य सिद्धि के लिए कृपा-कटाक्ष की आर्काशा करते हैं।

द्रवण भी दो प्रकार से होता है—साधक तो विनयावनत होकर करुणार्द्र हो जाता है एवं इष्ट शक्ति करुणा से आप्लावित हो कर अनुग्रह के लिए अवतरित होती है।

यही साधक व साध्य का साधारणीकरण है अर्थात् इस उच्च सात्त्विक अवस्था में साधक तथा साध्य एक ही भूमि पर उतर आते हैं, एवं

साधक पर अनुग्रह की पुष्टि हो उसके विग्रह की समाप्ति हो जाती है।

वैसे तो अ से लगाकर ह पर्यन्त सारे अक्षर सिद्ध है। कहा गया है कि “निर्बीजमक्षरं नास्ति” (बीज—रहित कोई अक्षर नहीं है) और ‘नास्त्यनक्षरं मंत्रम्’ (अक्षर—रहित कोई मंत्र नहीं) अर्थात् अक्षर में अपरिमित शक्ति निहित है। पर उन्हें बीजाक्षर बनाने के लिए उनमें नाद का व्यक्त रूप मिलाना पड़ता है।

यह नाद उनमें दो रूपों में मिलता है— एक अनुस्वार एवं दूसरा विसर्ग के रूप में।

ये अनुस्वार एवं विसर्ग मंत्र में शिव—शक्ति का काम करते हैं एवं फल—प्राप्ति में सहायक बनते हैं। जैसे अं अः।

अं से हम शक्ति का संचयन का काम करते हैं, अर्थात् स्फोट—ध्वनि पैदा कर अनुगुंजन के लिए मुँह बन्द कर देते हैं। एवं अः से विसर्जन करते हैं अर्थात् उस संचित—शक्ति को कार्य—सिद्धि के लिए खर्च करते हैं।

जैसे अणुबम में न्यूट्रॉन एवं प्रोटोन नाभि में स्थित होते हैं, एवं इलेक्ट्रॉन नाभि के चारों ओर विशेष कक्षों में चक्कर लगाते हैं, वैसे ही अनुस्वार एवं विसर्ग नाद रूप में नाभि में अवस्थित रहते हैं, एवं दूसरी ध्वनियाँ (वर्ण) इलेक्ट्रॉन की तरह कण्ठ, तालु, मूर्द्धा आदि विशेष कक्षों में चक्कर लगाते रहते हैं।

जब नाभि टूटती है तो न्यूट्रॉन और प्रोटोन आगे बढ़कर शक्ति के स्रोत बनते जाते हैं। वैसे ही अनुस्वार एवं विसर्ग नाभि से अलग

होकर स्वर व्यञ्जनों से मिलकर शक्ति के केन्द्र बन जाते हैं, एवं निरन्तर—उच्चारण से स्फोट—ध्वनि पैदा कर शक्ति का सर्जन करते हैं।

यही शक्ति—इच्छित कार्य की पूर्ति में सहायक बनती है।

यह शक्ति—विसर्जन तरंगाकार होता है, एवं प्रयुक्त बीजाक्षर की प्राणवत्ता के सदृश भाव—वलय का निर्माण कर तदनुसार फल—प्रदान करवाने में सहायक बनता है।

अक्षर बीजों का स्वरूप इस प्रकार है :—

- अँ — मृत्युनाशन
- आँ — आकर्षणकारी
- इँ — पुष्टिकर
- ईँ — आकर्षणकारी
- ऊँ — बलवर्द्धक
- ऊँ — उच्चाटन
- ऋँ — क्षोभकारी
- ऋँ — सम्मोहक
- ऌँ — विद्वेषकारी
- ऌँ — उच्चाटनकारी
- एँ — वश्यकारी
- ऐँ — पुरुषवश्य
- ओँ — लोकवश्य
- औँ — राजवश्य
- अः — मृत्युनाशकारी
- कं कः — विष बीज
- खं खः — स्तम्भन
- गं गः — गणपति (ऋद्धिदाता)
- घं घः — स्तम्भन

- चं — सुरबीज
 छं — लाभकारी
 जं — घातकारी
 झं — कामनापूरक शान्तिदाता
 टं — क्षोभन
 ठं ठः — विष मृत्युनाशन
 डं — गतिमान
 ढं — सम्प्रति बीज
 णं — प्राण बीज
 तं — अष्ट सिद्धिप्रदाता
 थं — मृत्युभय नाशक
 दं — दुर्गाबीज वशकारी
 धं — जयसुखकारी
 नं — ज्वरनाशकारी (बीज)
 पं — सर्व विघ्न—विनाशक
 फं — धन—धान्य—वर्द्धक
 बं — रोग—विनाशक
 भं — पिशाच भय—विनाशक
 मं — आह्वान बीज (भूत प्रेतदि)
 अष्ट महासिद्धिकारी
 यं — उच्चाटन, उग्र कर्मकारी
 वं — विषमृत्यु—विनाशक
 शं — श्रीकारी
 षं — धर्मार्थ—काम—मोक्षकर
 सं — ज्ञानकारी
 हं — कल्याण बीज
 लं — मूलाभकारी
 क्षं — मृत्युनाशक

चूं कि ह्रीं प्राण—रसायण है, अतः इनके आगे व पीछे ह्रीं का समावेश करना आवश्यक है, जैसे ह्रीं अं ह्रीं, मृत्युनाशक ह्रीं आं ह्रीं आकर्षणकारी ।

यदि सम्पूर्ण वर्णमाला ही बीज रूप नहीं होती तो सिद्धचक्र में इनकी (वर्णमाला) की स्थापना कर उसकी पूजा—अर्चना नहीं की जाती ।

बीजाक्षरों का संक्षिप्त स्वरूप यहाँ समझाया जा रहा है—

ह्रीं — माया बीज सर्जक

इसे किसी भी मंत्र में संयुक्त किया जा सकता है ।

श्रीं — लक्ष्मी बीज

श्चीं — इन्दुबीज शान्तिदाता

स्वीं — सुधा बीज

क्रीं — अंकुश बीज

क्लीं — अनंग बीज

क्ष्मं — आश्रय बीज

व्लीं क्लीं — रत्न बीज

ह्यौं — महाशक्ति बीज

हाः — निरोधन बीज

ठः — स्तंभनकारी

व्लैं व्लौं — विमल पिण्ड

ग्लैं — आकर्षणाक्षर

ग्लौं — स्तम्भन

हूं — विद्वेषकारी

व्हूं — द्रावक

द्रां द्रीं — द्रावक

नमः — शोधक, अर्चक

स्वाहा - होम संज्ञा (त्याग सूचक)

इन सब बीजाक्षरों का 'सिद्धम्' के समा-
हानपूर्वक जाप होना चाहिए।

इन बीजाक्षरों एवं उनके स्वरूप को सम-
झने के बाद इनकी जपविधि को समझना
आवश्यक है।

जपकर्ता साधक को इन चार बातों का
पूरा ध्यान रखना चाहिए।

(१) अक्षराक्षर संतानम् - मंत्र के अक्षरों
को स्पष्टता से उच्चरित करना चाहिए, जिससे
प्रत्येक अक्षर मंत्र में भिला होते हुए भी अलग
सत्ता का निरूपण करे। उच्चारण में शुद्धता
का ध्यान रखना परमावश्यक है।

(२) न द्रुतम् - मंत्रोच्चारण में शीघ्रता,
व्यग्रता, उद्विग्रता नहीं होनी चाहिए। इनसे
मंत्र का प्रभावक पौरुष लक्ष्य केन्द्रित नहीं
होता है।

(३) न विलम्बितम् - मंत्रोच्चारण में आव-
श्यकता से अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए।

यदि मंत्रों के उच्चारण में एक अक्षर के
बाद दूसरा अक्षर बोलने में विलम्ब कर दिया
तो उन दो अक्षरों के मिलने से जो शक्ति-भाव
पैदा होता है वह नहीं होगा एवं मंत्र सार्थक
नहीं बनकर निरर्थक बन जायगा।

वाक्य के उच्चारण में भी वाक्य के शब्दों
में आपस में आकांक्षा, योग्यता एवं सामीप्य की
आवश्यकता होती है।

आकांक्षा होती है साधक की अपने भावों
को दूसरों तक पहुँचाने की, अतः वह जैसे ही

अक्षरों का प्रयोग करता है जिनमें अर्थ-प्रेषण
की योग्यता है। पर अक्षर बिचारे क्या करेंगे ?
यदि उनमें परस्पर सामीप्य नहीं होगा। वैसे
ही बीजाक्षरों से भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए
उनमें सामीप्य रहना चाहिए। हमारी आकांक्षा
है सिद्धि की।

हमने ॐ मूल बीजाक्षर को एवं एक प्राण
शक्ति के प्रतीक ह्रीं को लिया। फिर इस प्राण
शक्ति को इच्छानुसार फल प्राप्त करने के लिए
क्लीं व्लीं आदि बीजाक्षरों के साथ जोड़ दिया
तो ये बीजाक्षर अब महासिद्धिदाता रसायण
बन गये।

यदि ये अलग अलग रूक रूक कर बोले
जाते तो आन्तरिक स्फोट-ध्वनि को पैदा नहीं
कर सकेंगे एवं हमें हमारा इष्ट साधन प्राप्त
नहीं होगा।

बीजाक्षरों एवं मंत्र पद के उच्चारण से
सिद्धि प्राप्त करने के लिए निम्न बातों का ध्यान
रखना चाहिए:-

उःसाहान्निश्चयाद् धैर्यात्, संतोषात् तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात्, षडभिर्योगः प्रसिध्यति ॥

अर्थात् मंत्र-जप से सिद्धि प्राप्त करने के
लिए मनमें उःसाह, भावना में निश्चय, वृत्ति में
धैर्य, हृदय में संतोष, बुद्धि में जिज्ञासा एवं जन-
समूह से अलग होकर एकान्तप्रियता की भावना
होनी चाहिए, तभी मंत्र-योग की सिद्धि हो
सकती है।

ये बीजाक्षर एक प्रकार के प्रतीक हैं, जिनमें
ईश्वरीय-शक्ति की प्रगाढ़ प्राणवत्ता समाई हुई है।

उपासना चार प्रकार की होती है :-

- (१) प्रतीकोपासना
- (२) प्रतिरूपोपासना
- (३) भावोपासना
- (४) एवं निदानोपासना

प्रतीकोपासना में ईश्वरीय-शक्ति के कुछ प्रतीक निर्धारित रहते हैं ।

प्रतिरूपोपासना में प्रतिमा की स्थापना होती है ।

भावोपासना में ध्यान योग का महत्त्व है ।

निदानोपासना में संकेतों का महत्त्व है ।

जैसे मोक्ष के लिये उपासना में श्वेत रंग को महत्त्व दिया जाता है, तो अनुग्रह के लिये लाल रंग को धारण किया जाता है ।

बीजाक्षरों में सब से सरल और महान् बीजाक्षर 'ॐ' एवं 'नमः' हैं, इसके बीच में किसी भी देवता के विशेषण को या नाम को डाल दिया जाय तो वह सुन्दर मंत्र बन जाता है, जैसे " ॐ वीतरागाय नमः " अथवा " ॐ नमो वीतरागाय " ।

इस महान् बीजाक्षर ॐ को कहाँ कहाँ लगाना चाहिए इसके लिए शास्त्र कहते हैं—

प्रणवाद्यं गृहस्थानां, तच्छून्यं निष्फलं भवेत् ।
आद्यन्तयोर्वनस्थानां, यतीनां महतामपि ॥

अर्थात्—“गृहस्थ को मंत्र के आदि में ॐ एवं वानप्रस्थ यति और महात्माओं को मंत्र के आरम्भ और अन्त में ॐ लगाना चाहिए उस के बिना मंत्र निष्फल होगा ।”

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि -

वाक् चैव कामः शक्तिश्च, प्रणवः श्रीश्च कथ्यते ।
तदाद्येषु च मंत्रेषु, प्रणवं नैव योजयेत् ॥

अर्थात् वाग्बीज—ऐं, कामबीज—क्लीं, शक्ति-बीज—ह्रीं एवं श्री बीज—श्रीं को प्रणव ही कहते हैं, अतः इनके पहले ॐ लगाने की आवश्यकता नहीं होती—वशीकरण, आकर्षण संतापकरण एवं त्याग—सूचकता के लिए स्वाहा, क्रोध—शमन शान्ति एवं पूजन—अर्चन में 'नमः' का प्रयोग करना चाहिए ।

सम्मोहन उद्दीपन पुष्टि एवं मृत्युञ्जय के लिए वौषट् ।

प्रीतिनाश एवं मारण के लिए 'हुं' ।

उच्चाटन, विद्वेष तथा मानसिक-विकारों की शान्ति के लिये फट् । विघ्न—विनाश तथा पीड़ा शमन के लिए हुं फट् का ग्रहकृत प्रयोग किया जाता है ।

लाभ—हानि एवं मंत्रोद्दीपन के लिए वषट् उच्चारण करने का विधान है ।

पर इन सबसे ऊपर का बीज है नमः नमो अथवा नमो ! क्योंकि यह शोधक है ।

अन्य देवताओं के नाम की योजना ॐ नमः के साथ करने पर चतुर्थी का प्रयोग होता है—ॐ नमः वीतरागाय, शिवाय ।

चतुर्थी का प्रयोग सम्प्रदान के अर्थ में होता है, अर्थात् हम देवता के लिए कुछ कर रहे हैं—अपने कल्याण के लिए ।

इस चतुर्थी-प्रयोग में आत्म-लीनता का भाव नहीं है। पर एक पद ऐसा है जिसमें नमः के साथ द्वितीया का प्रयोग होता है। वह है 'सिद्धम्'।

द्वितीया-प्रयोग में आत्मीयता, लीनता, तदाकार-वृत्ति का भाव है क्योंकि अपने समस्त कर्मों का पर्यवसान इस एक ही कर्म में हम करते हैं।

अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं के नामों की योजना इस मंत्र में इसलिए नहीं है कि अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु पदवी का अन्त है, पर मात्र एक सिद्ध अवस्था ही एक ऐसी अवस्था है जिस पर काल का वश नहीं।

अतः मनुष्य भी मंत्रोच्चार द्वारा निर्बाध सिद्ध पद के ही सुख को चाहता है।

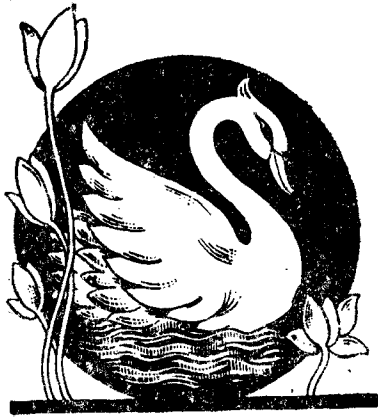
अतः अविनाशी सुख के चाहक आत्माओं के लिए सिद्ध भगवान को नमस्कार परम उपादेय होता है, क्योंकि-संसार की सभी वस्तुएँ विनाशी हैं, एक सिद्ध पद ही अविनाशी है।

अतः साधक को इन सब बीज मंत्रों को छोड़ कर केवल इस एक ही पद की उपासना करनी चाहिए।

यह पञ्चाक्षरी मंत्र हमारे पांचों प्राणों का प्रतीक है, एवं उनका पञ्चभूतात्मक संसार से सम्बन्ध एवं विच्छेद करवाने में सहायक होता है।

साधक की जैसी इच्छा होगी वैसा ही काम इस मंत्र से होगा। तो यह है मंत्रराज -

ॐ नमः सिद्धम्





“ नाद बिन्दु कला ”

(रहस्यात्मक विवेचन)

ले. दिव्यज्ञानी



दार्शनिक जगत में नादि—बिन्दु एवं कला का अत्यधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और इन्हें ॐ की क्रमशः व्युत्पत्ति, अर्थात्पत्ति एवं व्याप्ति ही माना गया है। ॐ बिन्दु—नाद एवं कला से समन्वित है।

एवं संसार के संचलन एवं विलयन दोनों इसीमें समाए हुए हैं। नाद जब व्याप्त होना चाहता है तो नाद नाभिमंडल में अनुगुंजन करता है फिर—

सृष्टि क्रम—कण्ठ स्वरूप बिन्दु से अभिव्यक्त होकर संसार में कलारूप में प्रगट होता है।

संहार क्रम—और जब लय होना चाहता है तो त्रिगुणात्मक—त्रिकलात्मक संसारको समेटकर सोऽहं, अहं अथवा ॐ के उच्चारण (—भाष्य—जाप से थककर उपांशु जाप (बिन्दु) का सहारा लेकर अन्त में मानस जापके द्वारा नाभिमंडल

में अनुगुंजित अनाहत—नाद में विलयन प्राप्त करता है।

तब प्रश्न यह उठता है कि नाद क्या है ? एवं उसका स्थान कौन—सा है ?

नाद शब्द बना है 'नद' धातु से, जिस का अर्थ है शब्द करना—कलकल ध्वनि करना—गरजना। इस धातुको घञ् प्रत्यय लगकर शब्द सिद्ध हुआ नाद, जिसका अर्थ है ध्वनि।

मातृका—शास्त्र में इसे वर्णोंको अव्यक्त मूल रूप कहते हैं, और योगशास्त्र में इसे अनुनासिक ध्वनि कहते हैं, जिसे हम चन्द्र—बिन्दु के द्वारा प्रगट करते हैं।

दर्शनशास्त्र इसे अनाहत नाद 'ध्वनि' कहता है, जो साधना की उच्च अवस्था में कर्ण—गह्वरों में निनादित होती है। ×

× संगीत—रत्नाकर में नाद की परिभाषा देते हुए कहा गया है—

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः। जातः प्राणातिसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥

अर्थात् नाद की मूल धातु है नद्। नद् का नकार प्राणवाचक तथा दकार अग्निवाचक है।

अतः जो अग्नि एवं प्राणवायु के योग से उत्पन्न होता है।

इसका यह तात्पर्य हुआ कि नाद जीव की मूल प्राणशक्ति है, जो नाभि में निवास करती है।

यह नाद दो प्रकार का होता है—आहत तथा अनाहत। यह नाद पिण्ड में प्रकाशित हो रहा है

अतः इसे पिण्ड भी कहा जाता है।

आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते। सोऽयं प्रकाशते पिण्डे तस्मात् पिण्डोऽभिधीयते।

मूलतः नाद अव्यक्त ध्वनि है जिसका स्थान नाभिकमल है। नाभि—मंडल में सोलह दलों का कमल है, जिस से स्वरमाला अ आ वगैरे उत्पन्न हुई है।

स्वर स्वयं प्रकाशमान है। “स्वयं राजन्ते इति स्वराः”। एवं संसार की सभी भाषाओं में इनकी व्याप्ति है।

नवजात शिशु और गुंगे स्वरों को उच्चारित करके स्वरों के माध्यम से अपनी स्थिति का बोध कराते हैं।

नाभि हमारी ज्ञानवाहिका परंपरा का मूल है। गर्भ—धारण से अर्थात् माता से जुड़ा हुआ रहता है। मानवसृष्टि से आज तक जो ज्ञान का प्रवाह एक के बाद दूसरी पीढी को सौंपा गया है, उसके मूल में नाभि ही है।

अतः नाभि के षोडश दल कमल के पराग के रूप में नाद निवास करता है।

यह नाद दो प्रकारका है। सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म रूपसे यह नाद संसारकी सारी वस्तुओं के मूल ॐ में, अहं में व्याप्त है, तो स्थूल रूप में यह संसार की सारी ध्वनियों में व्याप्त है।

यह नाद चार रूपों में व्यक्त होता है—संसार की समस्त ध्वनियों में इसकी व्याप्ति

वैखरीरूप हैं, और उनमें मूल ध्वनि परारूप है। मध्यमा वाणी का स्थान कंठ है—मध्ये तिष्ठति सा मध्यमा। पश्यन्ती वाणी का स्थान हृदय है।

नाभि परा वाणी का स्थान है। मुख वैखरी वाणी का स्थान है।

इसे यों कह सकते हैं कि जब अव्यक्त नाद अभिव्यक्त होना चाहता है तो वह हृदय तक आता है, एवं सारे विकल्पों को पार कर कंठ (बिन्दु) से घोषारूप प्राप्त कर मुख से वैखरी-रूपा—वर्णरूपा के कला के रूप में व्यक्त होगी।

कंठ संसार में सेतुरूप है, यानी अहं मंत्र रूप, क्योंकि यह वह सेतु है जहाँ से हम मंत्रोच्चार मात्र द्वारा अच्छी सृष्टि का निर्माण कर सकते हैं। एवं उच्चाटन—मंत्रों द्वारा बुरी सृष्टि का निर्माण कर सकते हैं।

यह विष्णु—रूप है, यानि सृष्टि का पालनकर्ता। यह कंठ—काव्य संसारका प्रवर्तन करता है अपनी इच्छानुसार। मम्मटाचार्य ने अपने काव्यप्रकाश में कहा है—

अपारे संसारे कविरेव प्रजापतिः।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं प्रवर्तते ॥१॥

अर्थात् अपार संसार में कवि ही प्रजापति है। उसे जैसा अच्छा लगता है वैसा ही संसार बना देता है।

जो नाद केवल ज्ञान से जाना जाता है और जो बिना संघर्ष या स्पर्श के पैदा हो जाए उसे अनाहत नाद कहते हैं।

जैसे दोनों कान जोर से बन्द करने पर सन् सन् की अस्पष्ट आवाज आती है वह अनाहत नाद है।

योगियों को वह स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

जो आवाज संघर्ष से उत्पन्न होती है एवं कानों से सुनाई पड़ती है उसे आहत नाद कहते हैं। जैसे कंठ में प्राणवायु के संघर्ष से क वर्ग, तालु से जीभ टकराकर च वर्ग आदि पैदा करती है।

आहत नाद भूमिदाता एवं अनाहत नाद मुक्तिदाता माना जाता है।

कवि के संसार—प्रवर्तन का माध्यम कंठ है, जो बिन्दु—रूप है ।

कंठ—प्रदेश से निसृत नाद मुखकमल से वर्ण मातृका का रूप धारण करता है । तो नाद के वर्ण मातृका रूप ५२ स्वर—व्यञ्जन है ।

इस मातृका—स्मरण का फल मुनि मेरु-सुंदरकृत बालावबोध में कहा गया है—

“ध्यायतोऽनादि संसिद्धान् वर्णनितान् यथाविधि ।
नष्टादिविषये ज्ञानं ध्यातुरुत्पद्यसे क्षणात् ॥”

अर्थ :—इन अनादिसिद्ध वर्णों का यथाविधि अर्थात् सिद्धचक्र की उपासना और ऋषिमंडल की उपासना—पूर्वक करने से ध्याता को समग्र ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

इस वर्ण—मातृका का परा रूप असेह पर्यन्त अग्निबीज युक्त अर्ह है ।

तो यह सिद्ध हुआ कि अर्हमय नाद नाभिकमल में अव्यक्तरूप से विद्यमान है ।

जब वह व्यक्त होता है, तो मातृका के साधक से बिन्दुरूप कंठ से निकलकर कलारूप मुख से प्रकट होता है और उसके पीछे जैसी भावना होती है वैसा ही स्फोट उत्पन्न होता है, और उससे उद्भूत ध्वनि—तरंगे सृष्टिक्रम में आलोलन—प्रत्यालोलन उत्पन्न कर नवोन्मेषमय संसार का सर्जन करती है ।

नाद बिन्दु का यह सृष्टिक्रम है ।

नाद बिन्दु—कला को अमात्र अर्ह मात्र (अर्धमात्र एवं त्रिमात्ररूप भी) कह सकते हैं । नाद अमात्र है, बिन्दु अर्धमात्रा सेतुरूप है, एवं कला त्रिमात्र त्रिगुणात्मक संसाररूप है । इस प्रकार यह नाद—बिन्दु—कला प्रणवाक्षर

ॐकारमय है । ॐ गणेशरूप मंगलमय आकृतिरूप ॐ यही ॐ स्वस्तिकरूप ॐ भो है ।

निश्चल परावाक् रूप प्रणवात्मक नादरूप कुण्डलिनी शक्ति ही प्रकृति है ।

उच्चारण से पूर्व यह नाद पर प्रणवरूप में नाभिमंडल में व्याप्त रहता है ।

जब वह जागृत होता है, तो भ्रमर के समान गुञ्जन करता हुआ हृदयकमल के व्यञ्जनों से मिलकर कंठ—मार्ग में आ कर निश्चित रूप एवं आकृति ग्रहण कर मुखकमल से स्थूल संसार में प्रवेश करता है ।

इस प्रकार यह नाद—चैतन्य नाभिप्रदेश में सुषुप्त अवस्था में रहता है, और बिन्दुरूप कंठ में स्वप्नवत् आचरण करता है ।

जिस प्रकार स्वप्न में हम न जागृत होते हैं और न सोए हुए, वैसे ही बिन्दु में संकल्पात्मक—विकल्पात्मक स्थिति रहती है, एवं मुँह से निकलकर जागृत होकर शब्दोच्चारण करते हैं ।

नाद—बिन्दु—कला को हम ब्रह्मा—विष्णु एवं शिव की संज्ञा भी दे सकते हैं ।

ब्रह्मा अव्यक्त मूल—रूप, विष्णु परावर्तित रूप, एवं अन्तिम शिवरूप कला है ।

अर्ह का ‘अ’ अव्यक्त का नादरूप, ‘र’ अन्तर का बिन्दुरूप, एवं ‘हं’ प्रकट कला रूप है ।

नाद में सत्त्व, रज व तमकी साम्यावस्था है, तो बिन्दु में उनका विचयन और कला में उनका प्रकटन है ।

जैसे यदि साधक के मनमें बुरी भावना है और वह नादात्मक अर्ह मंत्र का उच्चारण—

कलयन कर रहा है तो उसके तमो गुण की सृष्टि होगी। और यदि उसकी प्रवृत्ति रागात्मक है तो रजो गुण की सृष्टि, एवं यदि उच्चावस्था में हो तो सतोगुण की प्रतिष्ठा होगी।

यह नाद बिन्दु से कला तक पहुंचकर पुनः शुद्ध, स्वरूप में कैसे सुस्थित रहता है ? इसका उत्तर वेदान्त में उर्णनाभि (मकड़ी) के दृष्टान्त से दिया गया है—

“यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च ।”

जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल को बुनती है, एवं स्वयं उसे समेट भी लेती है, वैसे ही यह नाद उर्णनाभिवत् संसार का निर्माण भी करता है एवं संहार भी करता है।

नाद बिन्दु—कलात्मक ॐ अ—उ—म अरिहंत आचार्य उपाध्याय एवं मुनिरूप है।

नाद अरिहंत रूप है।

आचार्य एवं उपाध्याय बिन्दुरूप है, क्योंकि वे गीतार्थ हैं और वे द्वादशांगरूप वर्ण मातृका और उसके सार अर्ह का उपदेश देते हैं।

तथा मुनि कलारूप हैं, क्योंकि वे संसार के प्राणियों को नाना भाँति उपदेश देकर पापापहाररूप संवर की शिक्षा देते हैं।

नवकार मंत्र का सार है ॐ (अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु) नमः (णमो का अन्यय रूप) और सिद्धम्—जो “ॐ नमः सिद्धं” के रूप में पंचाक्षर पंचमंगलरूप बनता है। इसका सार है ‘अर्ह’।

अर्ह में अ से ह पर्यन्त वर्ण—मातृका समाई हुई है; जो नाद सरल रेखा, बिन्दु एवं कला वक्र रेखा से उत्पन्न है। कहा गया है कि—

“अग्निज्वाला समं नाद बिन्दु रेखा समन्वितम्”।
(ऋषिमंडल स्तोत्र)

नाद—बिन्दु—कला को वर्णों में स्वर—व्यंजन और वर्ण के रूप में देखे जा सकते हैं, जिसका स्थान नाभिमंडल है, व्यंजन बिन्दु है, जो अकारादि स्वरों से मिलकर कंठ में आ कर ग्रहण करते हैं। एवं वर्ण उनका कलारूप प्रकटन है।

यह नाद सूर्यरूप प्रकाशित तत्त्व है, जो चराचर संसार को प्रकाशित करता है।

जपसूत्र के ७८वे श्लोक में कहा है—

“सूयते ऋध्यते येन ते जो भुवन—नाभिषु।

सवितेति च तं विद्धि पूषेति भर्गरूपिणम् ॥

अर्थात् निखिल—भुवन की नाभि में जो तेज शक्ति रहती है, उस तेजः—शक्ति को जो उत्पन्न करता है और पौषण करता है, उसी साक्षात् भर्गरूपी देवता को सविता और पूषा कहकर जाने।

बिन्दु इस सूर्यकी किरणें हैं, जिनके माध्यम से वह सकल पदार्थों (कलाओं) का लय एवं उदय करता है।

इस प्रकार यह नाद उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यात्मक भी है।

अतः नाद ही साधक का परम ध्येय होना चाहिये।

साधक को कलारूप शरीर को शक्ति के अनुसार बिन्दुरूप शून्य में ध्यान अवस्थित कर नादरूप ॐ अर्ह में परा—मातृका का ध्यान करना चाहिए।

इस ध्यान की उच्चावस्था में यह नाद अनाहृत—ध्वनि का अनुगंजन करेगा।

इन सारी बातों का सारांश यह भी हो सकता है कि—यदि आप नाद—बिन्दु का समन्वित रूप देखना चाहते हैं तो आपको एक ही मंत्र पद ॐ नमः सिद्धम् में स्पष्ट रूप से दिखाई देगा ।

ॐ नाद का कलारूप नमः, बिन्दु का सेतु रूप एवं सिद्धम् उसका कला रूप है, क्योंकि ॐ तो प्रणव ध्वनि है, उसका मूल है । प्रकर्षण नवः अस्ति यः सः प्रणवः—अर्थात् जिस में प्रचुर नवीनता है, नित्य नया सर्जन करने की क्षमता है वह हुआ प्रणव ।

यह ॐ प्राण बीज एवं सिद्धि बीज है । नमः बिन्दु है क्योंकि यह साधक की गुण-प्राहकता, विपन्नावस्था एवं कृपाकाक्षिता का संकेत करता है ।

साथ ही यह नमः सिद्धपन का साधक की और झुकाव प्रदर्शित करता है, अतः सिद्ध एवं साधक के बीच पद सेतुरूप है ।

सिद्धम् पद साक्षात् कला रूप है । कला का अर्थ है मूल यानी ॐ रूप सिद्धि—बीज का नमन कर अपनी नमनीय—अवस्थारूपी जल का सिंचन कर सिद्ध पद रूपी मूल को प्राप्त करो ।

तो साधकों को यदि किसी भी कार्य की सिद्धि प्राप्त करनी है तो उन्हें बिन्दु—नाद—कला-मय ॐ नमः सिद्धम् की उपासना करनी चाहिए ।

बालकों को भी विद्याभ्यास के प्रारम्भ में इस मंत्रात्मक त्रिपदी को इसलिए पढ़ाते हैं कि वे संसार में पहले वर्णमातृका एवं फिर यह मातृका का ज्ञान प्राप्त करें ।

म....न....न....क....रें !!!

- * परमात्मशक्ति साहजिक प्रतीति आराधकों को वीर्योत्सास बढ़नेवाली होती है ।
- * अपनेमें समागत परमात्माका विशुद्ध स्वरूप छीपा हुआ है, यह विश्वास जब ज्ञानी गुरु के प्रताप से हो उठती है तब अपनी आराधना प्रबल हो जाती है ।
- * विचारों में दीनता अपने अंतरंग-स्वरूप की जानकारी की सामीले से हो उठती है ।



सूर्यप्रज्ञप्ति के अनुसार सूर्य गतिशील है ।

डॉ. तेजसिंह गौड
(पी. एच. डी.)

छोटाबजार—उन्हेल
(जि. उज्जैन) म. प्र.



सूर्यप्रज्ञप्ति जैनधर्म के महान् ग्रंथोंमें एक प्रमुख आगम—ग्रंथ है । जो कि गणितानुयोग के अन्तर्गत है ।

सूर्यप्रज्ञप्ति के मुख्य विषय का बीश प्राभृतों में विवेचन है । जो इस प्रकार हैं :—

- (१) सूर्यमंडलों की संख्या
- (२) सूर्य के प्रकाशक्षेत्र का परिमाण
- (३) सूर्य का तिर्यक् परिभ्रमण
- (४) सूर्य का प्रकाश संस्थान
- (५) सूर्य का लेश्या प्रतिघात
- (६) सूर्य की ओजः संस्थिति
- (७) सूर्यलेश्या संस्पृष्ट पुद्गल
- (८) सूर्योदय संस्थिति
- (९) पौरुषी छाया प्रमाण
- (१०) योग स्वरूप
- (११) संवत्सरो को आदि
- (१२) संवत्सर भेद
- (१३) चन्द्रमा की वृद्धि—अपवृद्धि
- (१४) ज्योत्स्ना प्रमाण
- (१५) चन्द्रादिकी शीघ्र गति निर्णय
- (१६) ज्योत्स्ना लक्षण
- (१७) चन्द्रादिका च्यवन और उपपात

(१८) चन्द्रादिका उच्चत्वमान

(१९) सूर्य—संख्या

(२०) चन्द्रादि का अनुभाव

इनमें से पहले प्राभृत के आठ, दूसरे में तीन और दसवे में बाईस उपप्राभृत याने प्राभृत-प्राभृत है ।

विश्वबंध भगवान श्री महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य गणधर गौतम स्वामी तथा अन्य गणधरादि भी अपनी—अपनी शंकाओं का समाधान भगवान महावीर के सम्मुख प्रस्तुत करते थे ।

गणधर गौतम स्वामी ने सूर्य के विषय में भी भगवान महावीर के सम्मुख कुछ प्रश्न प्रस्तुत किये थे जिनका समाधान भगवान महावीरने किया है ।

यह सब विवरण आगमग्रंथ 'श्री सूर्यप्रज्ञप्ति' में मिलता है ।

उसी विवरण को यहाँ संक्षेप रूप से उद्धृत किया जा रहा है । यथा :

गौतमस्वामी :—“जब सूर्य सबसे आभ्यंतर मंडल में से निकलकर सबके बाद के मंडल में चाल चले तथा सबके बाद के मंडल से निकल-

कर सबके अभ्यंतर मंडल में चाल चले तब यह काल—कितने रात्रि—दिनका होवे ?

उत्तर:—“यहाँ ३६६ तीन सो छालठ दिन का काल होवे ।”

प्रश्न:—“पूर्वोक्त काल में सूर्य कितने मंडलों में चलता है ? कितने मंडलों में एक समय चलता है और कितने मंडलों में दो समय चलता है ?

उत्तर:—सामान्यतः सूर्य १८४ मंडल में चलता है, जिसमें से १८२ मंडल में सूर्य दो समय चलता है, और प्रथम एवं अंतिम मंडल में एक समय चलता है, क्योंकि बीच के १८२ मंडलों में सूर्यका आना व जाना होने से दो समय चलता है और प्रथम व अंतिम मंडल में जाकर फिर दूसरे पर आ जाता है । इससे दोनों मंडलों में एक ही समय चलता है ।”

(सूर्यप्रज्ञप्ति १।४-५)

इसी विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि—

सूर्य परिभ्रमण करता है । इससे आगे सूर्य-प्रज्ञप्ति में दिनरात्रि का विवरण किया गया है । वहाँ भी स्पष्ट हो जाता है कि:—

सूर्य कब कहाँ होता है ? तब दिन—रात्रि कितने मुहूर्त के होते हैं ?

उदाहरणार्थ:—

“१२ वे मंडल में सूर्य चलता हो तब १५^{६६} मुहूर्त का दिन होता है और १४^{६६} मुहूर्त की रात्रि होती है ।”

इससे आगे भी सूर्य का परिभ्रमण प्रति-पादित किया गया है और प्रत्येक मंडल के परि-भ्रमण का विवरण दिया गया है ।

प्रथम प्राभृत के छोटे प्राभृत में एक रात्रि—दिन में सूर्य कितने क्षेत्र स्पर्श कर चलता है—इस विषय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है और आठवें प्राभृत में प्रमाण कहा गया है । इनमें भी सूर्य के गतिशील होने के प्राप्ति—विवरण है ।

प्रथम प्राभृत के अंत में सूर्य का मार्ग ५०९^{३३} तथा ५१० योजन का बताया गया है ।

यदि सूर्य परिभ्रमण नहीं करता होता तो फिर उसके मार्ग की लम्बाई का विवरण क्यों दिया जाता ? यह विचारणीय है ।

श्री सूर्यप्रज्ञप्ति के प्राभृत में सूर्यकी तिरछी गति का विवरण है ।

इस प्राभृत का प्रारंभिक विवरण बहुत ही आनंददायक है ।

—क्षीवर्य

प्रश्न:—भगवन् ! सूर्य की तिरछी गति उस प्रकार की है ?”

उत्तर:—“अहो शिष्य ! इसमें अन्यतीर्थीयों की प्ररूपणारूप आठ पडिवत्तियाँ कही है । उनमें से कितनेक ऐसा कहते हैं कि:—

पूर्व दिशा के लोक के चरिमान्त से प्रभात में पूर्व आकाश में निकलता है । वह तिरछे लोक में विनाश को प्राप्त होता है ।

(२) कितनेक ऐसा कहते हैं कि पूर्व दिशा के लोक के चरिमांत से प्रभात में सूर्य आकाश में रहता है । वही सूर्य तीरछे लोक में प्रकाश करके पश्चिम दिशा के लोकांत में संध्या समय में आकाश में विचरे । (३) कितने ऐसा कहते हैं कि पूर्व दिशा के लोक के चरिमांत में प्रभात में सूर्य आकाश में रहता है । वह तीरछे लोक में

प्रकाश करके पश्चिम के चरिमांत में संध्या समय आकाश में प्रवेश कर अधो लोक में आता है । वहाँ वह प्रकाश करता है । फिर पृथ्वीमें से निकलकर लोक के अन्त में प्रभात में सूर्य आकाश में रहता है । इस तीसरे मत से यह लोक वर्तुलाकारवाला है ऐसा होता है । इससे सूर्य दिन को उपर के भाग में और रात्रि को नीचे के भाग में प्रकाश करता है । जहाँ प्रकाश रहता है वहाँ दिन और जहाँ अदृश्य होता है वहाँ रात्रि । यह मत राजप्रसिद्ध व विदेशी प्रजा का है ।

उक्त तीनों मतवालों में विशेषता है, जो इस प्रकार है -

(१) सूर्य का विमान नहीं है, देवतारूप सूर्य नहीं है, परन्तु किरणों के संघातरूप गोलाकार है । लोकों के अनुभव से प्रतिदिन पूर्ण दिशा के आकाश में उत्पन्न हो सर्व स्थान प्रकाश रहता है ।

(२) दूसरे मतानुसार यह देवता रूप सूर्य तथाविध जगत के स्वभाव से आकाश में उत्पन्न होता है और अस्त होता है ।

(३) तीसरे मत के अनुसार—यह देवता—रूप सूर्य सदैव स्थित पृथ्वी पर प्रदक्षिणा करता करता है ।”

आगे पुनः तीन मत आकाशोदय व समुद्रोदय के रह गए हैं । दूसरे प्राभृत के प्रथम प्राभृत के अंतमें कहा गया है कि—

“वे दोनों में एक सूर्य दक्षिण दिशा के विभाग में प्रकाश करे और दूसरा उत्तर दिशा के विभाग में प्रकाश रहे, तब जम्बूद्वीप के पूर्व—पश्चिम विभाग में रात्रि होती है । और सब

पश्चिम—विभाग में प्रकाश रहे तब उत्तर—दक्षिण विभाग में रात्रि होती है ।

इस प्रकार वे दोनों सूर्य जम्बूद्वीप के दक्षिण—उत्तर विभाग में रात्रि व पूर्व—पश्चिम विभाग में प्रकाश रहते हुए जम्बूद्वीप की पूर्व—पश्चिम रेखा आदि प्रभात—रात हुए दोनों सूर्य आकाश में प्रकाश करते हैं” । २।९

इस विवरण से दो सूर्य होनेका स्पष्टीकरण मिलता है ।

दूसरे प्राभृत के दूसरे प्राभृत में सूर्य किस प्रकार चलता है ? इस प्रश्न का समाधान किया गया है ।

तथा तीसरे प्राभृत प्राभृत में यह बताया गया है कि हरएक मुहूर्त में सूर्य कितना चलता है ? इस सम्बन्ध में चार मत बताये गये हैं । यथा—

- (१) एक एक मुहूर्त में छः हजार योजन
- (२) एक एक मुहूर्त में पांच हजार योजन
- (३) ———— ” — चार हजार योजन
- (४) ———— ” — छः हजार, पांच हजार व चार हजार योजन चलता है ।

आगे सूर्य की इन गतियों का औचित्य प्रतिपादित किया गया है कि कौन—सी गति किस हेतु से उचित है ।

आठवें प्राभृत के अंत में कहा गया है “ढाई द्वीप में १३२ चंद्र, १३२ सूर्य निरंतर परिभ्रमण करते हैं ।”

यहाँ श्री सूर्यप्रज्जप्ति के आंशिक विवरण को प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि—

श्री सूर्यप्रज्जप्ति में सर्वत्र सूर्य को ही गतिमान बताया गया है । सम्पूर्ण विवरण के लिए समय एवं क्षण की अत्यंत आवश्यकता है ।





वैदिक साहित्य में पृथ्वी विषयक विवरण

कन्हैयालाल गौड़ एम. ए. साहियरन

१७ लाला लजपतराय मार्ग, निगमनिवास

उज्जैन (म. प्र.)



वेदों में पृथ्वी को 'महीमाता' कहा गया है, वह सबकी महती जननी है। ब्रुलोक सार्वभौम जनक अथवा पिता है। इन दोनों का अन्तर्भाव अदिति में है, जो सब देवों की माता है। (ऋ. १०।७२।५८)

पृथ्वी शक्ति की महती जननी है। उसी की शक्ति से प्रकृति चराचर का प्रसव करती है। समस्त पदार्थ उसी से उद्भूत हुए हैं। वह 'माता' है जिसकी गोदमें बालनारायण खेलते हैं अथवा जो उनकी रक्षा करती है।

वह मनुष्य तथा पशुओं की भी जननी है। वन्य जन्तु भी उसके परिवार के अंग हैं, क्योंकि वह जंगली जीव, नाग सुपर्ण और मत्स्यादि को भी उत्पन्न करनेवाली है।

उसके विराट प्रसव से औषधि, वनस्पतियाँ तक का जन्म होता है। जिसके द्वारा वह प्रजनन कार्य को जिसका वह आदि स्रोत है, सदा अप्रसर करती रहती है।

प्रकृति रूप से यह मातृशक्ति ब्रह्मका एक अभिन्न अंग है। (ऋ. ३. ९. ४. ३)

पृथ्वी के आरंभ से अब तक की उसकी कहानी बड़ी रोचक है। इसका कतिपय भाग प्रामाणिक है और अधिकांश धुंधला है। कुछ भी

हो पृथ्वी अपने स्थान पर स्थिर है और सूर्य पूरे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करता है।

अयुंक्त स्वप्न शुन्ध्यवः

सूरो रथस्य नात्यः।

ताभिर्याति स्वयक्तिभिः। १।५०।९ ऋग्वेद

“पवित्र करनेवाला बुद्धिमान तथा कभी न गिरनेवाला सूर्य अपने रथमें सात घोड़े जोड़ता है और फिर उन स्वयं जुड़ जानेवाले घोड़ों से वह सर्वत्र जाता है।”

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो

निवेशयन्नमृतं मर्त्ये च।

हिरण्मयेन सविता रथेना

देवोयाति भुवनानि पश्यन् ॥

“सवितादेव स्वर्णिम रथ पर चढकर अन्धकार मुक्त अन्तरिक्ष के मार्ग में भ्रमण करनेवाले देवताओं और मनुष्यों को अपने-अपने कर्म में लगाते हुए, सम्पूर्ण लोकों का अवलोकन करते हुए आगमन करते हैं।”

उपरोक्त दोनों ऋचाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि “पृथ्वी नहीं घूमती है वरन् स्वयं, सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है।”

वेदमत से पृथ्वी स्थिर है, तथा उसकी उत्पत्ति धन-धान्य उत्पन्न करने तथा प्रजा का पोषण करने के लिए की गई है।

आर्य विश्वा स्वपत्याग्निं
तस्थुः कृण्वानासो अमृत त्वायं गातुम् ।
मह्य महिद्भं पृथिवी वितस्थे ।
माता पुत्रेरदितिर्धृत्य सेवेः ।

(१।७।८।९ ऋग्वेद)

जो अमरत्व—प्राप्ति के लिए मार्ग तैयार करते हैं, वे उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करते हैं ।

बड़े वीर पुत्रों से युक्त (माता अदितिः) माता तथा खंडन के अयोग्य (पृथिवी) पृथ्वी धारण—पोषण के लिए अपनी महिमा से विस्तृत हुई । वही हे अग्ने ! तू हवि खाता है ।

स्कम्भेमें विष्टभिते
द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कम्भ इदं सर्वं मात्मनवद्,
यत् प्राणान्निमिषच्चयत् ॥

(१०।८।२ अथर्ववेद)

सर्वाधार शक्ति से आश्रित होकर ही यह द्यौः और भूमि अपनी अपनी कक्षा में अवस्थित है ।

स्कम्भ में वह समाया हुआ है, जो आत्मा-वाला है, अर्थात् चैतन्यपूरित है, जो साँस लेता है, और आँख झपकता है ।

अर्थात् जड़—चेतनात्मक यह सम्पूर्ण संसार उसी सर्वाधार परमेश्वर में ही समाया हुआ है ।

ध्रुवा द्यौः ध्रुवा पृथिवी
ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवाक्षः पर्वता इमें
ध्रुवो राजा विशामयम् ॥

(६।८८ १ अथर्ववेद)

जिस प्रकार बुलोक स्थिर है, पृथ्वी स्थिर है, यह सब जगत स्थिर है तथा ये पर्वत स्थिर है ।

उस प्रकार यह प्रजाओं का रंजन करने-वाला राजा स्थिर है ।

वेद चार है जिनमें से ऋग्वेद तथा अथर्ववेद इन दोनों के अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि—

पृथ्वी स्थिर है ।

यजुर्वेद में भी पृथ्वी स्थिर है विषयक ऋचा है देखिए :—

परतोऽपि तिसृणां बुलोक
प्रभू तिलोक—संस्तवः ।
यत्रोराद् ।
यमनी दीप्ता चासि ।
यत्र असि । यमती
ध्रुवा अक्षि धरित्री ।
पशुसंस्तवः पूर्ववत् ।
इषेत्वो—र्जेत्वारभ्यै ।
त्वा पोषायत्वा । लोकं
ता इन्द्रमिति व्याख्यातम् ॥

(१४।२।२। पृ. २६८ यजुर्वेद)

और अवलोकन के लिए—

द्यौस्ते द्यौश्च रो तव
पृथिवी च अंतरिक्षं च वायुश्च ।
छिद्रं पृणातु पूरयतु ते किं च ।
सूर्यश्च ते तव नक्षत्रेः
सहलोकं स्थानं कृणोतु ।
साधुन्या साधुम्
द्वितीयार्थेया छान्दसः ।

(३३।४३।पृ. ४४२ यजुर्वेद)

समस्त प्राणिओं के भीतर जो केन्द्र अथवा हृदय है, जिसका नाम प्रजापति है, उन्हीं में सभी कुछ है।

गुण—दोष दोनों ही उस बिन्दु या बीज के भीतर रहते हैं। ऐसी सर्वरूपेश्वरी देवी—शक्ति को प्रणाम करने के कारण ही भारत के मनीषियों ने समन्वय—प्रधान धर्म और दर्शन को जन्म दिया। शान्तरूप और विकरालरूप एक ही तत्त्व के द्विधारूप हैं।

इसलिए सब में पूज्य—बुद्धि या आत्मा—बुद्धि रखना आवश्यक है।

प्रकृति के विधान में सबका नियत स्थान है। किसी का अभाव नहीं किया जा सकता। अपने—अपने स्थान में सबकुछ सुशोभित है।

वैदिक—धर्मके ऋषियोंने प्रकृति (पृथ्वी) के विराट रूप का बहुत ही काव्यमय ढंग से वर्णन किया है। भक्तिप्रधान वैदिक—धर्म में जिस देवी अथवा प्राकृतिक—शक्ति के समय समय पर उपासना प्रचलित हुई उनका एकत्र वर्णन पाया जाता है। उनमें पृथ्वी भी सम्मिलित हैं।

मूर्धासिं राड्ध्रुवाक्षि

धरूणा धर्यसि धरणी ।

आयुषे त्वां वर्चसे त्वा

कृण्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥२१॥

यंत्रो राड् यन्त्र्यसि

यमनी ध्रुवासि धरित्री ।

इषे त्वोर्जे त्वा रच्यै

त्वा पोषाय—त्वा ॥२२॥ (यजुर्वेद)

हे बालखिल्ये इष्टके! तुम मूर्धा के समान सर्वश्रेष्ठ हो। तुम धारण करनेवाली और स्थिर हो, अतः स्थिर रूप से इस स्थान को धारण करो।

तुम धारण करनेवाली भूमि के समान स्थिर हो, इस स्थान को धारण करो।

तुम्हें अन्न—वृद्धि के लिए स्थापित करता हूँ। तुम्हें कल्याण की वृद्धि के निमित्त स्थापित करता हूँ।

तुम इस स्थान में विधिपूर्वक निवास करो। तुम स्वयं नियम में रहकर अन्य से भी नियम पालन करनेवाले हो, इस स्थान में रहो।

तुम पृथ्वी के समान अविचल हो, नीचे रखी इष्टका को धारण करो। अन्नप्राप्ति के निमित्त तुम्हें स्थापित करता हूँ।

धन की प्राप्ति के निमित्त तुम्हें स्थापित करता हूँ, धन की पुष्टि के निमित्त मैं तुम्हें स्थापित करता हूँ।”

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वी अपने स्थान पर स्थिर होकर वह प्रजाको देश को सम्पन्नता प्रदान कर रही है।

पृथ्वी का निर्माण अन्न प्राप्ति के लिए हुआ। जिस प्रकार अग्नि में जलाने की शक्ति, चन्द्रमा में चाँदनी, कमल में शोभा और सूर्य में चमक का सम्बन्ध है उसी प्रकार पृथ्वी में समस्त चराचर को पावन करने की शक्ति विद्यमान है।





दार्शनिक आलोक में आत्मा



डॉ. बलिराम शुक्ल

एम. ए., पीएच. डी., न्यायाचार्य
अध्यक्ष—न्याय एवं सर्वदर्शन विभाग
नई दिल्ली

दर्शन मुख्य रूप से तीन बातों का विचार और विश्लेषण करता है।

(१) मैं क्या हूँ ?

(२) यह बाह्य संसार क्या है ? और

(३) मुझमें और इस संसार में क्या सम्बन्ध हैं ?

इन प्रकार के विचारों के फलस्वरूप सभी भारतीय-दर्शनों में “मैं” के अर्थात् आत्मा के विचार का सृजन हुआ तथा मैं (आत्मा) के विश्लेषण को प्रमुख स्थान मिला।

पाश्चात्य दर्शन में भी Philosophy of the self का प्रामुख्य दृष्टिगोचर होता है।

पाश्चात्य-दर्शन में आत्मा शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है।

इसका पहला अर्थ है “एक अमूर्त एकता अथवा तत्त्व जो अपनी अभिव्यक्ति से पृथक् है।”

दूसरा अर्थ—“मानसिक-दशाओं का वह समुदाय जो अपने तत्त्व से पृथक् है।”

तथा तीसरा अर्थ है—“एक आध्यात्मिक तत्त्व जो अभिव्यक्ति के आधार पर प्रमाणित होता है, तथा परिवर्तनों के मध्य में अपने तादात्म्य को भी नहीं खोता है।”

पहला मत तात्त्विक मत (Nounaenal) है, दूसरा अनुभव पर आधारित है, तथा तीसरा

मूर्त अथवा आध्यात्मिक (Concrete or Idealistic) मत है।

भारतीय-दर्शनों में चार्वाक से होकर अद्वैत-वेदान्त तक सभी दर्शनों में आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में आत्मा के अस्तित्व और निषेध का विस्तृत उहापोह प्राप्त होता है।

इस प्रकार का विस्तृत, सर्वाङ्गीण तर्कपूर्ण विवेचन पाश्चात्य-दर्शन में प्राप्त नहीं है।

अतः प्रस्तुत में भारतीय-दर्शनों के आधार पर आत्मा (self) का विश्लेषण करना ही उचित होगा।

चार्वाक मत :

चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणवादी होने से उसके मत में आत्मा नामक आध्यात्मिक-तत्त्व की सिद्धि बाह्य भौतिक-पदार्थों के समान बाह्य प्रत्यक्ष से या सुख-दुःख से आंतरिक-भावनाओं की तरह आभ्यन्तर प्रत्यक्ष से संभव नहीं है।

आत्मा को प्रामाणिकता को अनुमान से भी प्रस्थापित करना प्रस्थापक हेतु के अभाव में अशक्य है।

चैतन्य-भूतपदार्थों की परिणति विशेष का नाम है।

जिस प्रकार गुड—आटा आदि में पहले न रहनेवाली मद—शक्ति उसी के सुरारूप में परिणत होने पर आ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतों के शरीर के रूप में परिणत हो जाने पर चैतन्य प्रादुर्भूत हो जाता है ।

अन्त—समय में व्याधि आदि के कारण चैतन्य का विनाश होकर मृत्यु की अवस्था प्राप्त होती है । जब तक चैतन्य रहता है तब तक स्मृति—अनुसंधान आदि व्यवहार चलते रहते हैं ।

आगम का प्रामाण्य कल्पित होने से उसके आधार पर भी आध्यात्मिक आत्म—तत्त्व की सत्ता का प्रतिष्ठापन नहीं किया जा सकता ।

वैसे आगम भी भूत—चैतन्यवाद का समर्थन करता है । अतः चार्वाक—मत के अनुसार नित्य आध्यात्मिक सत्ता की स्थापना न होने से पर-लोकादि की भी कल्पना निराधार है ।^१

बौद्ध मत :

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम के समान ही बौद्ध—दार्शनिक भी आध्यात्मिक आत्मतत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं ।

वे अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं ।

बौद्धों की मान्यता के अनुसार आत्मदर्शन ही सभी दुःखों का मूल कारण है ।

अतः नैरात्म्यदर्शन से ही कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभावतृष्णा का क्षय होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

बौद्ध क्षणभंगवादी होने के कारण उनके मत से किसी भी वस्तु की स्थायी सत्ता नहीं है ।

सतत प्रवहमानता, अनवरत परिवर्तन-शीलता ही है ।

अस्थायी Becoming के सिद्धान्त के अनुसार ह्यूम के समान बौद्ध दार्शनिक भी ज्ञान (आत्मा) को मानसिक प्रक्रियाओं का क्रम मात्र अथवा विज्ञान सन्तान मात्र मानते हैं ।

उनके अनुसार आत्मा पञ्चस्कन्ध है, यह अस्थायी मनोदशाओं तथा शारीरिक प्रक्रियाओं का संघातमात्र है ।

यह रूपस्कन्ध, वेदना स्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध तथा विज्ञानस्कन्ध का संघात है ।

इन पाँच प्रकार के स्कंधों का संघात ही यथार्थवादियों का अहंप्रत्ययवेद्य आत्मा है ।

आत्मा का यह विचार ह्यूम के विचार के समान है, परन्तु बौद्धों का आत्मा का प्रत्यय शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की क्रियाओं को भी अपने में सम्मिलित करता है । परन्तु ह्यूम का प्रत्यय मात्र प्रत्यय है । उसमें मानसिक तथा शारीरिक—क्रियाओं का समावेश नहीं है ।

१ विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येनानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति ।

२ तथा च लौकायतिकाः परलोकाप्रवादिनः । चैतन्यत्वचितात् चित्तात्कायान्नात्माऽन्योऽस्तीति मन्वते ॥

नित्य आत्मा माननेवाले सुख—दुःख आदि भावनाओं के उत्पन्न होने पर उसमें प्रकृति का अनुभव करते हैं तो उसे धर्म—अधर्मादिके समान अनित्य मानना होगा और यदि सुख आदि के उत्पन्न होने पर भी यदि वह निर्विकार है तो सुख—दुःख के रहने या न रहने से क्या विशेष होता है ?

यदि कोई विशेष नहीं है तो कर्म का वैफल्य हो जाएगा, इसलिए कहा गया है कि—

वर्षाऽऽतपाभ्यां किं व्योम्नः

चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।

चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः

रवतुल्यश्येदसत्समः ॥

अर्थात् “जिस प्रकार वर्षा या धूप से आकाश में कोई विकृति नहीं आती है, परन्तु चमड़े में उससे विकृति उत्पन्न होती है। यदि आत्मा चर्म के समान है तो अनित्य होगा और आकाश के समान है तो वह असत् के समान है।

इस लिए मुमुक्षु को मूर्धाभिषिक्त इस आत्म-ग्रहरूपी मदमोह को छोड़ना चाहिए।

आत्मग्रह के विनष्ट होने पर आत्मीयग्रह का विनाश होता है। जब ‘मैं’ का अस्तित्व नहीं है तो ‘मेरे’ का कहाँ अस्तित्व रह जाता है ? इस प्रकार से अहंकार और ममाकार की ग्रन्थि का विमोचन करनेवाला नैरात्म्यदर्शन ही निर्वाणद्वार है।

नैरात्म्यदर्शन का मार्ग क्षणिकता का निश्चय है।

सभी पदार्थों को क्षणिक मानने पर ज्ञान का भी कोई आश्रय सिद्ध न होने से आत्मा की कल्पना रव पुष्प तुल्य सिद्ध होती है।

सतत परिवर्तनशील शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में प्रवहमान एकता है, परन्तु उनके कोई स्थायी तत्त्व नहीं है। अस्थायी शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ अविधा के कारण भ्रमवशात् स्थायी आत्मा मान ली जाती है।^३

मिलिन्द प्रश्न में बौद्ध दार्शनिक नागसेनने राजा मिलिन्द को रथ के दृष्टांत द्वारा आत्मा की संघातरूपता को समझाया है।

जिस प्रकार रथ, चक्र, ध्रुवा तथा रथ के अन्य अवयवों के संघात के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

उसी प्रकार “मैं” आत्मा भी रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध तथा विज्ञानस्कन्ध के संघात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

सांख्य मत :-

सांख्य का मत है कि प्रकृति कर्ता है और पुरुष या आत्मा पुष्कर—पलाश की तरह निर्लेप परन्तु चेतन है।

चेतना पुरुष का स्वाभाविक गुण है, यह न्याय—मत के समान उसका आकस्मिक गुण नहीं है।

३ ज्ञानं बौद्धग्रहे तावत्कुतो नित्यं भविष्यति । अन्येऽपि सर्वे संस्काराः क्षणिका इति गृह्यताम् ॥ वही

आत्मा कभी भी अचेतन नहीं होती, चैतन्य उसका स्वभाव होने से वह अपने स्वभाव से कभी विहोन नहीं होता है।

वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है।

पदार्थों का ज्ञान बुद्धिमें होता है जो कि प्रकृति का अचेतन विकार है।

ज्ञान इन्द्रियों तथा पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।

यह ज्ञान आत्मा का धर्म समझा जाता है।

शुद्ध चैतन्यमय आत्मा जब बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है, तो अचेतन—बुद्धि भी अपने को चेतन समझने लगती है। जैसे जपा—कुसुम के सम्पर्क से स्फटिक में रक्तता भासित होती है।

आत्मा या पुरुष ज्ञाता तथा दृष्टा है। वह भोक्ता है, भोग्या प्रकृति है।

प्रकृति और उसके विवर्त दृश्य या भोग्य है।

आत्मा ज्ञाता है, परन्तु वह क्रियाशील कर्ता नहीं है।

सुख—दुःख, ज्ञान आदि भी बुद्धि के ही धर्म हैं। क्रियाशीलता भी बुद्धिमें ही रहती है।

आत्मा भ्रम से अपने आपको क्रियाशील तथा ज्ञाता समझने लगती है। पाप—पुण्यादि सभी धर्मबुद्धि के हैं, जो आत्मा में प्रतिबिम्बित होते हैं।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पुरुष अनेक पुरुष को अनेकता को स्वीकार किये बिना जन्म,

मरण, बन्धक, मोक्ष की व्यवस्था का तर्कयुक्त प्रतिपादन संभव नहीं है।

पुरुष के भोगों के लिए प्रकृति जगत के रूप में परिणत होती है। और पुरुष के लिए यह संसार को समेट लेती है।

जिस प्रकार बछड़े की तृप्ति के लिए स्तन से दूध प्रवर्तित होता है, उसी पुरुष के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।

सांख्य जीव के अतिरिक्त किसी विशेष पुरुष की सत्ता को नहीं स्वीकार करता। पुरुष विशेष की कल्पना योगदर्शन में उपलब्ध होती है।

न्याय मत :—

न्याय मत के अनुसार आत्मा भी द्वादश तत्त्वज्ञानोपयोगी प्रमेयों से एक है।

न्याय मानता है कि आत्मा एक स्थायी तत्त्व है, जो ज्ञान, इच्छा सुख—दुःखादि चतुर्दश गुणों का आश्रय है।

आत्मा अपने तात्त्विक—स्वरूप में चेतन नहीं है, चैतन्य—ज्ञानादि आत्मा के आगन्तुक धर्म है।

चेतना उसका स्वरूप नहीं है, यह उसका बाहरी गुण है।

मन और आत्मा के संयोग से विषयों के सम्पर्क के फलस्वरूप चेतना उत्पन्न होती है।

सुषुप्तिकी अवस्था में मन जब पुरीतती नाडी में प्रवेश कर जाता है, उस अवस्था में आत्मा की चेतना नष्ट हो जाती है।

१. आत्मशरीरेन्द्रियाथंबुद्धिमनःप्रवृत्ति—प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् । न्या. सू. १-१-९.

मोक्षावस्था में आत्मा के अशेष विशेष गुणों का ध्वंस हो जाता है ।

इसलिए न्याय की इस मुक्ति को कुछ विद्वानों ने शिला की उपमा दी है । “मुक्तये शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्” कहकर श्री हर्षने इसको खिल्ली उड़ाई है ।

तात्पर्य यह है कि अपने निजी रूप में आत्मा—अविज्ञान ही है ।

न्यायसिद्धान्त के अनुसार आत्मा ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्ता है । ज्ञान, इच्छा, आदि इसके आगन्तुक गुण हैं ।

ज्ञान इच्छा के समान अदृष्ट अर्थात् पाप और पुण्य भी आत्मा के गुण है ।

विदित कर्मों से पुण्य तथा निषिद्ध कर्मों से पाप उत्पन्न होते हैं ।

संस्कार भावना के रूप में आत्मा का वह गुण है, जिसके कारण पूर्वानुभूत वस्तुओं, घटनाओं आदि का स्मरण होता है ।

मुक्ति की अवस्था में पाप—पुण्यादि सभी विशेषगुण नष्ट हो जाते हैं ।

मोक्ष की अवस्था आत्यन्तिक—दुःख—निवृत्ति की अवस्था है । इसमें २१ प्रकार के दुःखों का पूर्णतया विनाश हो जाता है ।

जिसके कारण पुनः दुःख उत्पन्न होने की संभावना ही नहीं रह जाती है ।

२१ दुःखों में दुःख के कारणों का भी दुःख के रूपमें परिगणन किया गया है ।

यही वजह है कि दुःखों के कारणों का समूहोच्छेदन हो जाने से पुनः संसार की कोई संभावना नहीं रहती है ।

इसीलिए उपनिषदों में इस अवस्था का वर्णन “न स पुनरावर्तते” के रूपमें प्राप्त होता है ।

वैशेषिक और न्याय मत में आत्मा के स्वरूप के विषय में कोई मतभेद नहीं ।

द्रव्य के नौ प्रकारों में वैशेषिक आत्मा का भी समावेश करते हैं ।

आत्मा के जीव और ईश्वर भेद भी वैशेषिकों को मान्य है ऐसा समझा जाता है ।

जीव प्रति—व्यक्तिभेद से भिन्न होने से अनन्त प्रकार के हैं ।

न्याय—मतसिद्ध आत्मा के स्वीकार न करने पर पाप—पुण्य व्यवस्था, स्मृति—संस्कार का कार्य—कारण सिद्धान्त तथा प्रत्यभिज्ञा व्यवहार को पुष्टि नहीं हो सकती है ।

न्यायमंजरीकार जयन्त ने बौद्धों के विज्ञानवाद और क्षणभंगुरवाद का निराकरण करके स्थायी—आत्मा की सत्ताकी पुष्टि की है ।

इसी प्रकार वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन प्रभृति नैयायिकों ने बौद्ध, सांख्य और चार्वाक—मत की तीव्र आलोचना की है ।

आत्मा की जडता का आरोप जो न्याय मत पर किया जाता है, वह उचित नहीं है ।

क्योंकि जडता का अर्थ है ज्ञानादि का अत्यन्तभाव । वह आत्मा में कभी नहीं रहता है ।

क्योंकि “ध्वंस—प्रागभावयोरधिकरणेनात्यन्तभावः” इस नियम के अनुसार जहाँ ज्ञाना-

दिका ध्वंस रहता है या प्राणभाव रहता है वहाँ अत्यन्ताभाव नहीं रहता है।

मुक्तिकाल में अशेष विशेष गुणों का ध्वंस होने से वहाँ उनका अत्यन्ताभाव नहीं रहेगा।

अतः आत्मा को जडता का आरोप खंडित हो जाता है।

ज्ञान के ध्वंस या प्राणभाव को जडत्व नहीं कहा जा सकता है।

क्योंकि शिक्षणावस्थायी ज्ञान का ध्वंस

ज्ञान की अवस्था में भी होता है। उस समय भी जडत्वप्राप्ति होगी।

अतः ज्ञानात्यन्ताभाव को जडत्व कहना समीचीन है।

यद्यपि नव्य नैव्यायिक उपर्युक्त नियम को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मत में भी प्रति-योगिव्यधिकरणज्ञानात्यन्ताभाव को जडत्व माना जाता है और वह जडत्व मुक्तिकरण में आत्मा में न होने से श्री हर्ष का उपर्युक्त कथन उपेक्षणीय है।

म...न...नी...य...सू...त्र...

* विचारों की शक्ति पर भरोंसा रख कर मानव अपना विकास कर सकता है।

किंतु आचारमें परिणत न होनेवाले विचार कारी बन लेनार हैं

अतः आराधककी पवित्र फरज है कि विचारों में आचारशक्तिका मिश्रण करना चाहिए।





वैदिक साहित्य में आत्म-तत्त्व विवेचन

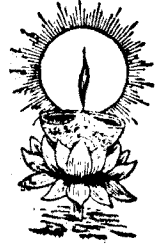
ले. डो. राम संजीवन त्रिपाठी

एम. ए. (संस्कृत एवं दर्शन) वेदान्ताचार्य

साहित्यरत्न विद्यावारिधि (पी एच., डी.)

मार्ग-निर्देशक एवं चेतनाविज्ञान प्राध्यापक

महर्षि वेदानुसंधान प्रतिष्ठानम्-नयी दिल्ली



भारत को प्राचीनकाल से धर्मगुरु, अध्यात्मगुरु या जगद्गुरु पद से अभिहित किया जाता रहा है।

इसका मुख्य आधार “अध्यात्म-चिन्तन” अथवा आत्मचिन्तन की गंभीरता और आत्मज्ञान का विस्तार है। यह चिन्तन वेदों में मौलिक एवं विस्तृत रूप में मिलता है। वेदों को समस्त ज्ञान का भण्डार माना गया है और “वेद” शब्द का व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ भी “ज्ञान” है, जो आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान का समानार्थक है।

अध्यात्मवादियों ने तो प्रत्येक ऋचा (वेद-मन्त्र) में उस तत्त्व का मूलतः दर्शन किया, जिसे आत्मज्ञान या ब्रह्मदर्शन कहते हैं।

वेदों में प्रमुख ऋग्वेद की पहली ऋचा में ही उक्त प्रमाण मिल जाता है। यथा —

“अग्नि मीले पुरोहितम्” में “अग्नि” शब्द का “अ” वर्ण वैयाकरणों और आत्मवेत्ताओं के मत में ब्रह्म का वाचक है।

गीता का “अक्षराणाम् अकारोऽस्मि” वचन भी इस तत्त्व का पोषण करता है।

इसके अतिरिक्त आत्मम् शब्द में प्रथम वर्ण “अ” ऋग्वेद की प्रथम ऋचा का प्रथम वर्ण है।

इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि—वेदों के त्रिविद्यार्थ विवेचन में, आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से मात्र आत्म तत्त्व का विश्लेषण ही वेदों का विशेषतः वेदों के अन्तिम भाग (उपनिषदों) में वेदान्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है तो कोई असंगत बात नहीं होगी।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२९वें सूक्त में पहली बार एकतत्त्ववाद का दर्शन होता है।

जहाँ “कस्मै देवाय हविषा विधेम” के रूप में जिज्ञासा कर के सृष्टि के देवता प्रजापति को “हिरण्यगर्भ” नाम से एकमात्र तत्त्व के रूपमें स्वीकार किया गया।

इसी मण्डल के एक सौ नब्बेवें सूक्त में विराट् पुरुष की कल्पना भी एक तत्त्व की इयत्ता का पोषण करती है।

किन्तु इसे समष्टिभूत आत्मा के रूप में माना गया है। यथा—

“पुरुष एवेदं सर्वं यद भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतस्त स्मशानो पदेन्नेनातिरोहति ॥”

हिरण्यगर्भ और विराट्पुरुष के अतिरिक्त वैदिक-दर्शन में ऋग्वेद से उपनिषदों तक, दो अन्य समानार्थक सत्ताओं को वैदिक-साहित्य

के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय के रूप में देखा जा सकता है ।

ये सत्ताएँ हैं—(१) ब्रह्मन् और (२) आत्मन् ।

दो पर्यायवाची, शब्दों से व्यक्त इन सत्ताओं का, एकत्व और पूर्णत्व

“पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते ॥”

इस मंत्र में स्पष्ट तथा प्रतिपादित हो जाता है ।

यदि और सूक्ष्म वीक्षण करें, तो पूर्ण चेतना के आत्मा—विस्तार की अभिव्यक्ति हमें

“ऋचोऽक्षरे चरमे व्योमन् ,

यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेद किं ऋचः,

करिष्यसि य इह तद्विदुः त इमे समासते ॥”

इस मन्त्र में सम्यक्तया दृष्टिगोचर होती है ।

सृष्टि—सिद्धान्त के निरूपणार्थ भारतीय—दर्शन में संभवतः सर्वोत्तम विषय आत्मा या आत्मन् ही समझा गया है ।

यह शब्द अंग्रेजी—भाषा के Self (सेल्फ) का समानार्थक है । कहीं कहीं Being के रूप में भी इसे दार्शनिकों ने आत्म—विवेचन के सन्दर्भ में ग्रहण किया है ।

बाइबल के न्यू टेस्टामेन्ट (New Testament) के गंभीर चिन्तन से भी कहीं गंभीरतर और गंभीरतम चिन्तन के प्रसंग में वेदों के अन्तिम भागभूत उपनिषदों में इस आत्मा, आत्मन् या आत्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है ।

जहाँ एक ओर पूर्ण तत्त्व के रूप में,

* तस्मादेतस्माद्वा आत्मन आकाशः जायते,

आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः

अग्नेरावः, अद्भ्यः पृथिवी पृथ्व्या ओषधम् ओषधिभ्ये इमानि सर्वाणि भूतानि जायन्ते ।”

—से विकासवाद का दार्शनिक सिद्धान्त वर्णित है वहीं “शिवं शान्तं शाश्वतमद्वैतं चतुर्थं तं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः ।”

ऐसा कहकर परम साध्यभूत तत्त्व के रूप में आत्मा को स्वीकार किया गया ।

उक्त दोनों धारणाओं के बीच, मध्यमा प्रतिपदा न्यायानुसार हर वर्ण के विचारकने आत्मा को अपने पक्ष में लेने का प्रयास किया । यहाँ तक कि जडवादी विचारकों के मत के प्रमाणभूत मंत्र भी वेदों में उपलब्ध हैं ।

अति प्राकृतों के मत का “आत्मा वै पुत्र नामासि” पोषक कौशीतकी उपनिषद् का ११ वाँ मंत्र अपने पुत्र में आत्मीय प्रेम का प्रदर्शन कर पुत्र के पुष्ट या नष्ट होने पर (अहमेव पुष्ये नष्टो वा) ऐसा भाव प्रकट करता है ।

चार्वाकों के विचारधारा का समर्थन करने वाले “स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तैत्ति. उप. द्वितीय वल्ली प्रथम अनु. के मन्त्र से, घर में आग लग जाने जैसा घटनाओं में पुत्र को भी छोड़कर अपने को बचाने की प्रवृत्ति से एकाकी भाग निकलने आदि में स्थूल शरीरात्मवाद की पुष्टि होती है ।

इन्द्रियात्मवाद जैसे कुछ अन्य जड़वादी दार्शनिकों को भी स्वमत-पोषक “ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः (छां. ५।१।७) में प्रमाण मिल जाते हैं।

इसके अतिरिक्त—

× अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः,
अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः.

अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः,
अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः.

इन मंत्रों में प्राण, मन, बुद्धि और यहाँ तक कि भौतिक-सुख या अहं को भी आत्मशब्द से अभिहित किये जाने के उदाहरण हैं।

कुछ अन्य भाषादिकों के मतों के समर्थनार्थ “प्रज्ञानघन एवानन्दमयः “माण्डूक्योपनिषद् के ५वें मन्त्र और “असदेवेदमप्र आसीत्” छान्दो. ६।१।१ (शून्यवादी बौद्धमत पोषक) मंत्र भी क्रमशः आत्मा का अविद्या युक्त चैतन्यात्मा और शून्यात्मवाद के पक्ष में प्रमाण बनते हैं; किन्तु, वास्तव में आत्मा के वास्तविक और पूर्ण-स्वरूप तक पहुँचने के लिये उक्त दार्शनिकों के लिये पृथक्-पृथक् प्रमाणभूत ये वैदिक-मंत्र अरुन्धती-तारा (ज्ञान) न्याय से विशुद्ध-तत्त्व के ज्ञानार्थ क्रम के रूप में मान्य हैं।

विशुद्धात्मा का ज्ञान तो “अहं ब्रह्मास्मि” (वृद्ध. १।४।१०) की स्थिति में पहुँच कर ही हो पाता है।

उस विशुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा का जिसे “रस” (रसो वै सः) और ‘आनन्दाद्भ्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते’ आदि मन्त्रों में आनन्द-स्वरूप माना गया, उसका ज्ञान

तो स्वयं उसी के द्वारा होता है। “उद्वेदात्मनात्मानम्” यह भी निर्देश दिया गया कि जब जानने आदि के लिये एकमात्र विषय वह आत्मा ही है। तो उसी को सर्वप्रकार से ज्ञान का केन्द्र-बिन्दु बनाया जाये।

आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो,
मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च”

इस प्रकार की विचारधारा में यह भी तत्त्व छिपा हुआ है कि—

आत्मा और ब्रह्म में यदि किसी प्रकार का अन्तर ढूँढ़ने का प्रयास किया भी जाय तो हम सिर्फ यह कह सकते हैं कि ब्रह्म शब्द का प्रयोग जहाँ समष्टिगत आत्मा के लिये हुआ वहाँ आत्मा का प्रयोग व्यक्तिगत के लिये हुआ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के बारे में यूनान के परमेनाडीज (Parmenides) जैसा सिद्धान्त मिलता है।

वह यह कि “आत्मा ही सत्य है और इस से परे कुछ नहीं।”

इस समूचे सिद्धान्त को हम तीन सूत्रों में व्यक्त कर सकते हैं—

(१) आत्मा ही वास्तविक है।

(२) हमारे ज्ञान का विषय आत्मा है।

(३) अनुभूति का विषय होने से आत्मा अनिर्वचनीय है।

सभी लोक और समस्त ब्रह्माण्ड-समवाय तथा उस में रहनेवाले जड़-चेतनभूत समस्त तत्वों की सत्ता, उस आत्मा के अंश के रूपमें ही स्थित हैं—‘तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।’

इस प्रकार वैदिक-साहित्य में आत्मचित्तन का पर्याप्त विचार प्राप्त होता है।

× तैत्तिरीय उपनिषद् बल्ली-२ अनुवाक २ से ५



आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन में अस्तिकाय की अवधारणा



डा. सागरमल जैन
निर्देशक पार्श्वनाथ विद्या-शोध संस्थान-वाराणसी ५

जैन दर्शन में 'द्रव्य' के वर्गीकरण का एक आधार अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अवधारणा भी है।

षट् द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव ये पांच अस्तिकाय माने गये हैं, जब कि काल को अनस्तिकाय माना गया है।

अधिकांश जैन दार्शनिकों के अनुसार काल का अस्तित्व तो है, किन्तु उसमें कायत्व नहीं है, अतः उसे अस्तिकाय के वर्ग में नहीं रखा जा सकता है।

यद्यपि कुछ श्वे. आचार्यों ने काल को स्वतंत्र द्रव्य मानने के सम्बन्ध में भी आपत्ति उठाई है, किन्तु यह एक भिन्न विषय है, जिसकी चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है।

सर्व प्रथम तो हमारे सामने मूल प्रश्न यह है कि अस्तिकाय की इस अवधारणा का तात्पर्य क्या है ?

व्युत्पत्ति की दृष्टि से "अस्तिकाय" दो शब्दों के मेल से बना है।

अस्ति+काय—"अस्ति" का अर्थ सत्ता या अस्तित्व और "काय" का अर्थ है, शरीर अर्थात् जो शरीररूप से अस्तित्ववान है, वह अस्तिकाय है।

किन्तु यहाँ "काय" या शरीर शब्द भौतिक-शरीर के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, जैसा कि जनसाधारण समझता है।

क्योंकि पंच अस्तिकायों में पुद्गल को छोड़कर शेष चार अमूर्त हैं। अतः यह मानना होगा कि यहाँ काय शब्द का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में ही हुआ है।

पंचास्तिकाय की टीका में कायत्व शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है:—

"कायत्वमाख्यं सावयवत्वम्" अर्थात् कायत्व का तात्पर्य सावयवत्व है।

जो अवयवी द्रव्य है, वे अस्तिकाय और जो निरवयवो द्रव्य है वे अनस्तिकाय है।

अवयवी का अर्थ है अंगों से युक्त। दूसरे शब्दों में जिस में विभिन्न अंग अंश या हिस्से (Parts) हैं वह अस्तिकाय है। यद्यपि यहां यह शंका उठाई जा सकती है कि अखण्ड-द्रव्यों में अंश या अवयव की कल्पना कहां तक युक्ति-संगत होगी ?

जैन दर्शन में पंच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन एक, अविभाज्य एवं अखण्ड द्रव्य हैं।

अतः उनके अवयवी होने का क्या तात्पर्य है ?

पुनश्च कायत्व का अर्थ सावयवत्व मानने में एक कठिनाई यह भी है कि परमाणु तो अविभाज्य, निरंश और निरवयवी है तो क्या वह अस्तिकाय नहीं है ?

जब कि जैनदर्शन के अनुसार परमाणु पुद्गल का ही एक रूप है और पुद्गल अस्तिकाय माना गया है ।

प्रथम इन प्रश्नों के संबन्ध में दार्शनिकों का प्रत्युत्तर यह होगा कि—

यद्यपि धर्म, अधर्म और आकाश अविभाज्य एवं अखण्ड द्रव्य है; किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से ये लोकव्यापी हैं, अतः क्षेत्र की दृष्टि से इनमें सावयवत्व की अवधारणा या विभाग की कल्पना की जा सकती है ।

यद्यपि यह केवल वैचारिक-स्तर पर की गई कल्पना या विभाजन ही है ।

दूसरे प्रश्न का प्रत्युत्तर यह होगा कि यद्यपि परमाणु स्वयं में निरंश, अविभाज्य और निरवयव है, अतः स्वयं तो कायरूप नहीं है, किन्तु वे ही परमाणु स्कन्ध बनकर कायत्व या सावयवत्व को धारण कर लेते हैं, अतः उन में कायत्व का सद्भाव मानना चाहिए ।

पुनः परमाणु में अवगाहनशक्ति है, अतः उसमें कायत्व का सद्भाव है ।

जैन दार्शनिकों ने अस्तिकाय और अनस्तिकाय के वर्गीकरण का एक आधार बहुप्रदेशत्व भी माना है ।

जो बहुप्रदेशीय द्रव्य हैं, वे अस्तिकाय है और जो एक-प्रदेशीय द्रव्य हैं वह अनस्तिकाय है

अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अवधारणा में इस आधार को स्वीकार कर लेने पर पूर्वोक्त कठिनाईयां बनो रहती हैं । प्रथम तो धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों स्व-द्रव्य-अपेक्षा से तो एकप्रदेशी हैं, क्योंकि अखण्ड हैं, पुनः परमाणु-पुद्गल भी एकप्रदेशी है ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में तो उसे अप्रदेशी भी कहा गया है, क्योंकि इन्हें अस्तिकाय नहीं कहा जायेगा ?

यहाँ भी जैन-दार्शनिकों का सम्भावित प्रत्युत्तर वही होगा जो कि पूर्वप्रसंग में दिया गया है ।

धर्म, अधर्म और आकाश में बहुप्रदेशत्व द्रव्यापेक्षा से नहीं, अपितु क्षेत्र-अपेक्षा से है । द्रव्य-संग्रह में कहा गया है—

यावन्मात्रं आकाशं अविभाजि पुद्गलावष्टब्धम् ।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम् ॥

—२७ (संस्कृतछाया)

प्रो. जी. आर. जैन भी लिखते हैं

‘Pradesh is the unit of space occupied by one indevisible atom fo matter.’

अर्थात् “प्रदेश आकाश की वह सबसे छोटी ईकाई है जो एक पुद्गल-परमाणु घेरता है ।” विस्तारवान होने का अर्थ क्षेत्र में प्रसारित होना है ।

क्षेत्र की अपेक्षा से हो धर्म और अधर्म को असंख्य प्रदेशी और आकाश को अनन्त-प्रदेशी कहा गया है, अतः उनमें उपचार से कायत्व की अवधारणा की जा सकती है।

पुद्गल का जो बहुप्रदेशीपना है, वह परमाणु की अपेक्षा से न होकर स्कन्ध की अपेक्षा से है, इसीलिए पुद्गल को अस्तिकाय कहा गया है, न कि परमाणु को।

परमाणु तो स्वयं पुद्गल का एक अंश या प्रकार मात्र है।

वस्तुतः इस प्रसंग में कायत्व का अर्थ विस्तारयुक्त होना ही है, जो द्रव्य-विस्ताररहित है वे अनस्तिकाय हैं।

विस्तार की यह अवधारणा क्षेत्र की अवधारणा पर आश्रित है।

वस्तुतः कायत्व के अर्थ के स्पष्टीकरण में सावयवत्व एवं सप्रदेशत्व की जो अवधारणायें प्रस्तुत की गई हैं वे सभी क्षेत्र के अवगाहन की संकल्पना से संबंधित है।

विस्तार का तात्पर्य है क्षेत्र का अवगाहन। जो द्रव्य जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है वही उसका विस्तार (Extention), प्रदेश-प्रचयत्व या कायत्व है। विस्तार या प्रचय दो प्रकार माना गया है, ऊर्ध्व प्रचय और तिर्यक् प्रचय।

आधुनिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः ऊर्ध्व एकरेखीय विस्तार (Longitudenal Extension) और बहुआयामी विस्तार (Multi dimensional Extension) कहा जा सकता है।

जैन अस्तिकाय की अवधारणा में प्रचय या विस्तार को जिस अर्थ में ग्रहण किया जाता है, वह बहुआयामी विस्तार है न कि ऊर्ध्व एकरेखीय विस्तार।

जैन दार्शनिकों ने केवल इन्हीं द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है, जिनका तिर्यक्-प्रचय या बहुआयामी विस्तार है, काल में केवल ऊर्ध्व प्रचय या एकआयामी विस्तार है, अतः उसे अस्तिकाय नहीं माना गया है।

यद्यपि प्रो० जी. आर. जैन ने काल को एकआयामी (Mono dimensional) और शेष को द्वि-आयामी (Two dimensional) माना है।

किन्तु मेरी दृष्टि में शेष द्रव्य त्रि-आयामी है, क्योंकि वे स्कन्ध रूप हैं, अतः उनमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई तीनों ही हैं।

स्कन्ध में लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई के रूप में तीन आयाम होते हैं।

अतः कहा जा सकता है कि जिन द्रव्यों में त्रि-आयामी विस्तार है वे अस्तिकाय द्रव्य हैं।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि काल भी लोकव्यापी है फिर उसे अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया ?

इसका प्रत्युत्तर यह है कि यद्यपि लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालाणु स्थित हैं, किन्तु प्रत्येक कालाणु (Time-Grain) अपने आप में एक स्वतंत्र द्रव्य है, वे परस्पर निरपेक्ष हैं, स्निग्ध एवं रुक्ष-गुण के अभाव के कारण उनमें बन्ध नहीं होता है, अर्थात् उनके स्कन्ध

नहीं बनते हैं, स्कन्ध के अभाव में प्रदेश—प्रचयत्व की कल्पना सम्भव नहीं है, अतः वे अस्तिकाय द्रव्य नहीं है।

काल द्रव्य को अस्तिकाय इसलिए नहीं कहा गया कि उसमें स्वरूपतः और उपचारतः दोनों ही प्रकार से प्रदेश—प्रचय की कल्पना का अभाव है।

यद्यपि पाश्चात्य—दार्शनिक देकार्त ने पुद्गल (Matter) का गुण विस्तार (Extention) माना है, किन्तु जैन दर्शन की विशेषता तो वह है कि वह आत्मा, धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त द्रव्यों में भी विस्तार की अवधारणा करता है। इनके विस्तारवान (कायत्व से युक्त होने) का अर्थ है वे दिक् (Space) में प्रसारित या व्याप्त है।

धर्म एवं अधर्म तो एक महास्कन्ध के रूप में सम्पूर्ण लोकाकाश के एक सीमित असंख्य-प्रदेशी क्षेत्र में प्रसारित या पर्याप्त है।

आकाश तो स्वतः ही अनन्त (लोक एवं अलोक) में विस्तरित है, अतः इनमें कायत्व की अवधारणा की सम्भव है।

जहां तक आत्मा का प्रश्न है, देकार्त उसमें 'विस्तार' को स्वीकार नहीं करता है, किन्तु जैन दर्शन उसे विस्तारयुक्त मानता है, क्योंकि आत्मा जिस शरीर को अपना आवास बनाता है, तब उसमें समग्रतः व्याप्त हो जाता है।

हम यह नहीं कह सकते हैं कि शरीर के अमुक भाग में आत्मा है और अमुक भाग में नहीं है, वह अपने चेतना—लक्षण से सम्पूर्ण शरीर

को व्याप्त करता है, अतः उसमें विस्तार है, वह अस्तिकाय है।

हमें इस भ्रान्ति को निकाल देना चाहिए कि केवल मूर्त—द्रव्य का विस्तार होता है और अमूर्त का नहीं।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अमूर्त द्रव्य का भी विस्तार होता है, वस्तुतः अमूर्त द्रव्य के विस्तार की कल्पना उसके लक्षण या कार्यों (Functions) के आधार पर की जा सकती है, जैसे धर्म द्रव्य का कार्य गति को सम्भव बनाना है, वह गति का माध्यम माना गया है।

अतः जहां जहां गति है या गति का सम्भव है, वहीं धर्मद्रव्य की उपस्थिति एवं विस्तार है, यह माना जा सकता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि किसी द्रव्य को अस्तिकाय कहने का तात्पर्य यह है कि वह द्रव्य दिक् में प्रसारित है या प्रसारण की क्षमता से युक्त है।

विस्तार या प्रसार (Extention) ही कायत्व है, क्योंकि विस्तार या प्रसार की उपस्थिति में ही प्रदेश—प्रचयत्व तथा सावयवता की सिद्धि होती है।

अतः जिन द्रव्यों में विस्तार या प्रसार का लक्षण है, वे अस्तिकाय हैं।

(२)

हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह है कि जैन दर्शन में जिन द्रव्यों को अस्तिकाय माना गया है उनमें प्रसार (कायत्व) नहीं मानने पर क्या

कठिनाई आयेगी और इसी प्रकार काल को, जिसे अनस्तिकाय माना गया है, अस्तिकाय या प्रसार—लक्षणयुक्त मानने पर क्या कठिनाई आयगी ?

सर्व प्रथम यदि आकाश को प्रसारित नहीं माना जायेगा तो उसके मूल लक्षण या कार्य की ही सिद्धि नहीं होगी।

आकाश का कार्य अन्य द्रव्यों को स्थान देना है, द्रव्यसंग्रह में कहा गया है—

“अवगासदाणजोगं जीवादीणं वियाण आगासं”

अर्थात्—“ जो जीवादि द्रव्यों को स्थान देता है वही आकाश है। ”

प्रसार या विस्तार तो आकाश का स्वरूप लक्षण है। उसके अभाव में उसकी सत्ता ही सम्भव नहीं होगी।

यदि आकाश विस्तरित न होगा तो अन्य द्रव्यों का स्थान कैसे दे पावेगा ? अतः आकाश को विस्तार युक्त अथवा अस्तिकाय मानना आवश्यक है। विस्तार की सम्भावना आकाश में ही सम्भव है।

यदि आकाश स्वयं विस्तरित न होगा तो उसमें अन्य—द्रव्यों का अवगाहन या विस्तरण कैसे होगा ? अब स्थिति, विस्तार, गति आदि किसी प्रसारित या विस्तरित द्रव्य में ही सम्भव है, अतः आकाश को विस्तारयुक्त (अस्तिकाय) मानना आवश्यक है।

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि

आकाश विस्तरित है तो उसका विस्तार या प्रसार किसमें है ?

वस्तुतः आकाश स्वतः ही विस्तीर्ण है।

अन्य द्रव्य उसमें अवगाहन करते हैं, विस्तरित होते हैं और गति करते हैं। विस्तार तो उसका स्वलक्षण है। वह अन्य किसी में विस्तरित नहीं होता।

यदि उसके विस्तार या अवगाहन के लिए हम किसी अन्य द्रव्य की कल्पना करेंगे तो अनन्तता के दुश्चक्र (Fallacy of infinite regress) में फँस आवेगे, अतः उसे स्वरूपतः ही विस्तारवान या अस्तिकाय मान लिया है।

धर्मद्रव्य गति का माध्यम है। “गमण णिमित्तं धम्मं” (नियमसार)

गति विस्तीर्ण—तत्त्व में ही सम्भवित है।

यदि धर्मद्रव्य गति का माध्यम है, तो उसे उतने क्षेत्र में विस्तीर्ण या व्याप्त होना चाहिए जिसमें गति की सम्भव है।

यदि गति का माध्यम स्वयं विस्तीर्ण या प्रसारित नहीं होगा तो गति सम्भवित ही नहीं होगी। जैसे जल का प्रसार जितने क्षेत्र में होगा उतने ही क्षेत्र में मछली की गति सम्भवित होगी।

उसी प्रकार धर्मद्रव्य का प्रसार जिस क्षेत्र में होगा उसी क्षेत्र में पुद्गल और जीवों की गति सम्भवित होगी।

अतः धर्म द्रव्य को विस्तारयुक्त या अस्तिकाय मानना आवश्यक है।

गति लोक (universe) में ही सम्भव है क्योंकि धर्मद्रव्य का विस्तार लोक तक सीमित है।

अधर्म द्रव्य स्थिति का माध्यम है। “अधर्मं ठिडि जीव-पुग्गलाणं च०” (नियमसार)।

जिसके कारण परमाणु-स्कन्ध की रचना करते हैं, और स्कन्धरूप में संगठित रहते हैं, जो आत्म-प्रदेशों को शरीर तक सीमित रखता है और विश्व की एक व्यवस्था में बांध कर रखता है वही अधर्म द्रव्य है।

विश्व को एक व्यवस्थित रचना बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि अधर्म-द्रव्य का प्रसार लोकव्यापी माना जाय, अन्यथा विश्व के मूल घटक परमाणु अनन्त-आकाश में छितर जावेंगे और कोई रचना सम्भवित नहीं होगी।

अतः जहाँ गति का माध्यम है, वहाँ वहाँ उसका विरोधी स्थिति का माध्यम भी होना चाहिए, अन्यथा उस गति का नियंत्रण कैसे होगा ?

विश्व में गति के संतुलन को और इस रूप में विश्व के संतुलन को बनाये रखने के लिए अधर्म द्रव्य को लोकव्यापी एवं विस्तार-लक्षण युक्त अर्थात् अस्तिकाय मानना आवश्यक है।

पुद्गल-द्रव्य में विस्तार है, यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, क्योंकि जिन पुद्गल-स्कन्धों का हमें प्रत्यक्ष होता है, वे सब विस्तार-युक्त हैं,

स्कन्ध की रचना ही परमाणुओं के तिर्यक प्रचय से होती है, अतः वे कार्यरूप है ही।

यद्यपि पुद्गल-द्रव्य के अन्तिम अविभाज्य घटक वे परमाणु जो स्वयं तो स्कन्धरूप नहीं है, किन्तु उनमें भी सन्ध और रूक्ष गुणों (Positive and Negative charges) की

उपस्थिति के कारण स्कन्ध-रचना की सम्भावना है, अतः उनमें भी उपचार से कायत्व माना जा सकता है। पुनः उनमें अवगाहन-शक्ति भी मानी गई है, अतः उनमें कायत्व या विस्तार है।

यदि पुद्गल को अस्तिकाय नहीं माना जायेगा तो एक मूर्त-विश्व की सम्भावना ही निरस्त हो जायेगी।

जीव-द्रव्य में यदि हम विस्तार की सम्भावना का अस्वीकार करेंगे तो कठिनाई यह होगी कि जीव अपने स्वलक्षण चैतन्य-गुण से अपने शरीर को व्याप्त नहीं कर सकेगा।

शरीर में चैतन्य का संकोच एवं विस्तार देखा जाता है, अतः उस चैतन्य-गुण के धारक आत्मा विस्तारयुक्त या अस्तिकाय मानना आवश्यक है।

शरीर का विस्तार तो बाल्य-काल से युवावस्था तक प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है, यदि हम शरीर को विस्तारयुक्त और आत्मा को विस्तार-रहित मानेंगे तो दोनों में जो सहचार भाव है, वह नहीं बन पायेगा।

इसीलिए वेदान्त ने आत्मा को सर्वव्यापी मान लिया। यद्यपि आत्मा को सर्वव्यापी मानने के सिद्धान्त में भी अनेक तार्किक असंगतियाँ हैं, किन्तु प्रस्तुत आलेख के सन्दर्भ से अलग होने के कारण उनकी चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है। जैन-दर्शन में आत्मा शरीरव्यापी है, अतः वह अस्तिकाय है।

अब एक प्रश्न यह शेष रहता है कि काल को अस्तिकाय क्यों नहीं माना जा सकता ?

यद्यपि अनादि भूत से लेकर अनन्त भविष्य तक काल के विस्तार का अनुभव किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसमें कायत्व का आरोपण सम्भव नहीं है।

क्योंकि काल का प्रत्येक घटक अपनी स्वतंत्र एवं पृथक् सत्ता रखता है। कालाणुओं में स्निग्ध एवं रूक्ष गुण के अभाव में कोई स्कन्ध या संघात नहीं बन सकता है।

यदि उनके स्कन्ध की परिकल्पना भी कर ली जाय तो पर्याय-समय की सिद्धि नहीं होती है।

पुनः काल के वर्तना-लक्षण की सिद्धि केवल वर्तमान में ही है, और वर्तमान अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः काल में विस्तार या प्रदेश-प्रचय नहीं माना जा सकता और इसलिए वह अस्तिकाय भी नहीं है।

(३)

सभी अस्तिकाय-द्रव्यों का विस्तार-क्षेत्र समान नहीं है, उसमें भिन्नतायें हैं।

जहां आकाश का विस्तार-क्षेत्र लोक और अलोक दोनों है, वहां धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य केवल लोक तक ही सीमित है।

पुद्गल के प्रत्येक स्कन्ध और प्रत्येक जीव का विस्तार-क्षेत्र भी भिन्न है।

पुद्गल-पिण्डों का विस्तार-क्षेत्र उनके आकार पर निर्भर करता है।

जब कि प्रत्येक जीवःत्मा का विस्तार-क्षेत्र उसके द्वारा गृहीत-शरीर के आकार पर निर्भर करता है।

इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव अस्तिकाय होते हुए भी उनका विस्तार-क्षेत्र या कायत्व समान नहीं है।

जैन-दार्शनिकों ने उनमें प्रदेश-दृष्टि से भिन्नता स्पष्ट की है।

भगवतीसूत्र में बताया गया है कि-धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के प्रदेश अन्य द्रव्यों की अपेक्षा सब से कम है। वे लोकाकाश तक (Within the universe) सीमित है, अतः असंख्य-प्रदेशी है।

धर्म द्रव्य एवं अधर्म द्रव्य की अपेक्षा जीव द्रव्य के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक है।

क्योंकि प्रथम तो जहां धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य एक एक है, वहां जीव द्रव्य अनन्त हैं। पुनः प्रत्येक जीवद्रव्य के असंख्य प्रदेश हैं। जीव द्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा भी पुद्गल द्रव्य के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव के साथ कर्म-पुद्गल संयोजित है।

काल की प्रदेश-संख्या पुद्गल की अपेक्षा भी अनन्त गुणा मानी गई, क्योंकि प्रत्येक जीव और पुद्गल की वर्तमान अनादि भूत और अनन्त भविष्य की दृष्टि से अनन्त पर्यायें हैं।

यद्यपि इन सभी की अपेक्षा आकाश द्रव्य के प्रदेशों की संख्या ही सर्वाधिक मानी गई है, क्योंकि धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल और काल सभी सीमित लोक में ही स्थित (Within the finite universe) है, जब कि आकाश अनन्त अलोक में भी स्थित है।

यद्यपि यहां यह समस्या बनी हुई है, असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त पुद्गल-परमाणु कैसे समाहित हो सकते हैं? क्योंकि जैन-दर्शन यह मानता है कि एक आकाश-प्रदेश दिक् (स्पेइस) की वह सबसे छोटी इकाई है, जिसे एक पुद्गल-परमाणु घेरता है।

किन्तु इस धारणा के अनुसार तो असंख्य पुद्गल परमाणु ही समाहित होंगे, अनन्तानन्त नहीं। इस समस्या का उत्तर निम्न रूप में दिया जा सकता है—

(१) एक अमूर्त सत्ता उसी स्थान में दूसरी अमूर्त सत्ता को रहने में बाधक नहीं बनती है। चूंकि परमाणु भी परमाणु रूप में अमूर्त है, अतः एक ही आकाश-प्रदेश में अनन्त-परमाणु एक साथ रह सकते हैं, यह मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

(२) परमाणु और परमाणुपिण्ड (स्कन्ध) में अवगाहन शक्ति है, अर्थात् वे दूसरों को स्थान दे सकते हैं। जिस प्रकार आकाश अपने अवगाहन-गुण के कारण दूसरे द्रव्यों को स्थान देता है, उसी प्रकार परमाणु और स्कन्ध भी अपनी अवगाहन-शक्ति के आधार पर दूसरे परमाणुओं और स्कन्धों को स्थान देते रहेंगे।

यहां हमें इस भ्रान्ति को दूर कर लेना चाहिए कि अवगाहन शक्ति का अर्थ संकोच-विस्तार है।

यद्यपि जीव और पुद्गल में संकोच-विस्तार की शक्ति भी है, किन्तु यह उनके प्रसार-गुण (कायत्व) के कारण है।

अवगाहन-शक्ति का अर्थ तो दूसरों को समाहित करने की क्षमता है।

जैसे एक कमरे में एक बल्ब का प्रकाश फैल रहा है, यदि हम उसी कमरे में हजार दूसरे बल्ब भी जला दें तो उनका प्रकाश भी उन्हीं आकाश-प्रदेशों में समाहित हो जावेगा। इसी का दूसरा उदाहरण ध्वनि का है।

यह बात विज्ञान-सम्मत है कि विश्व में अनादि-भूत एवं वर्तमान में जो कुछ ध्वनि हुई है, वह सब ध्वनि-तरंग के रूप में विश्व में और विश्व के प्रत्येक सूक्ष्मतम भाग में उपस्थित है।

जैन-दर्शन की भाषा में कहे तो एक आकाश-प्रदेश में अनन्तानन्त ध्वनियाँ उपस्थित हैं। यहां यह ध्यान रखना चाहिए—प्रकाश और ध्वनि पौद्गलिक ही नहीं बल्कि मूर्त भी है।

अतः मूर्त में भी अवगाहन-शक्ति होने से एक ही आकाश-प्रदेश में अनन्त-परमाणुओं एवं मूर्त-स्कन्धों की उपस्थिति को सम्भवित माना जा सकता है।

(३) जैन-दर्शन के अनुसार लोकाकाश के प्रदेश लोक के प्रत्येक भाग में है। जिस स्थान में विश्व का सर्वाधिक घनीभूत पुद्गल-पिण्ड उपस्थित है, उसी स्थान में आकाश-प्रदेश भी है।

इसका अर्थ यह हुआ कि वहां दूसरे स्थिर एवं गतिवान पुद्गल-पिण्डों के समाहित होने की सम्भावना बनी ही रहती है, क्योंकि-विश्व का कोई भी भाग किसी भी स्थिति में आकाश-

शून्य नहीं रहता है, अतः उसी स्थान (आकाश—प्रदेश) में अनन्तानन्त पुद्गलपिण्डों का समाहित होना सम्भव है ।

कोई घनीभूत से घनीभूत पुद्गल—पिण्ड भी आकाशरहित नहीं होता है, अर्थात् उसमें सदैव ही अवगाहन—शक्ति बनी रहती है और इसलिए वह दूसरे अनन्त परमाणुओं एवं पुद्गल पिण्डों को अपने में समाहित कर सकता है और यह सम्भावना कभी समाप्त नहीं होती है ।

(४) यह भी सम्भव है लोकाकाश को असंख्य—प्रदेशीय केवल इसीलिए कहा गया हो कि लोक की सीमितता बताना था, यदि अनन्त—प्रदेशी कहते तो लोक असीम (infinite) हो जाता । वस्तुतः तो वह अनन्त—प्रदेशी ही है ।

(५) यह भी सम्भव है कि परमाणु के उत्कृष्ट आकार को लेकर यह माप बताया गया हो कि एक आकाश—प्रदेश एक परमाणु के आकार का है ।

जैसे समय का माप परमाणु की जघन्य गति के आधार पर किया है, अर्थात् जघन्य गति से एक परमाणु जितने काल में एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में पहुंचता है वही एक समय (काल का सबसे छोटा भाग) का माप है ।

उत्कृष्ट—गति से तो एक परमाणु एक ही समय में विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक (अर्थात् १४ राजू) की यात्रा कर लेता है ।

अस्तिकाय विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जैन—दर्शन में स्वीकृत पंच अस्तिकाय एवं काल की

अवधारणा का आधुनिक विज्ञान से कहां तक तालमेल है ? यह प्रश्न भी विचारणीय है ।

सर्व—प्रथम तो हमें यह देखना है कि जैन—दर्शन के षट् द्रव्यों की धारणा विश्व की व्याख्या के लिए क्यों आवश्यक है ?

दिक् (स्पेस), काल (टाइम) और पुद्गल (मैटर) ये तीन तत्त्व तो विश्व के मूल आधार हैं । इनके बिना विश्व की कल्पना नहीं की जा सकती है ।

दिक् और काल तो विश्व की प्राथमिक शर्तें हैं, क्योंकि विश्व के कारणभूत पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व किसी काल और किसी स्थान में ही सम्भव है ।

चाहे आइंस्टीन के सापेक्षतावाद ने यह सिद्ध कर दिया हो कि दिक् और काल की अवधारणाएँ गति—सापेक्ष है, किन्तु यह सापेक्षता दिक् और काल के सम्बन्ध में ज्ञान की सापेक्षता है और उनके अस्तित्व की नहीं है, क्योंकि इन अमूर्त—सत्ताओं को मानवीय—ज्ञान किसी ऐन्द्रिक अनुभूति के तथ्य के सन्दर्भ में ही समझ सकता है और वह तथ्य गति है । गति उन्हें समझने का माध्यम है, किन्तु इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि गति की अवधारणा स्वयं दिक् (आकाश) और काल की अवधारणा पर आधारित है । गति, दिक् एवं कालसापेक्ष है ।

जैन दार्शनिकों के अनुसार दिक् (आकाश) और काल के कार्य (फंक्शन) अलग—अलग है । दिक् (स्पेस) स्थान प्रदान करता है, तो काल

द्रव्यों में परिवर्तन को सम्भवित बनाता है। अतः दोनों स्वतंत्र द्रव्य है।

पुद्गल (मेटर) तो विश्व का मूल उपादान है, अतः उसकी सत्ता तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करनी होगी।

विश्व में जीवन की उपस्थिति भी अनुभव-सिद्ध है, अतः जीवास्तिकाय का अस्तित्व भी स्वीकार करना ही होगा। चाहे वैज्ञानिक जीवन का विकास पुद्गल से मानते हों और उसे स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते हों और किन्तु वे भी अभी तक इसे विज्ञान से सिद्ध नहीं कर पाये हैं।

पुद्गल जीवन को अभिव्यक्त होने के लिए अवसर प्रदान करता हो, किन्तु आवश्यक नहीं है कि वह जीवन की रचना भी करता हो।

किन्तु क्या दिक् (आकाश), काल, पुद्गल और जीव केवल इन चार की सत्ता मानकर विश्व की व्याख्या सम्भव हो सकेगी? जैन दार्शनिकों का प्रत्युत्तर होगा, नहीं।

प्रथम तो हमें इनसे पृथक् ऐसे तत्त्व की कल्पना करनी होगी जो विश्व को एक व्यवस्था में बांध कर रखता है, पुद्गल—पिण्डों एवं परमाणुओं को अनन्त आकाश में छितर जाने से रोकता है, वैज्ञानिक इसे गुरुत्वाकर्षण (ग्रेविटेशन) के नाम से जानते हैं।

जैन दर्शन में इसे हम अधर्म द्रव्य कहते हैं, यद्यपि जैन दर्शन का अधर्मद्रव्य गुरुत्वाकर्षण

से थोड़ा भिन्न अवश्य है, पुनश्च विश्व में केवल स्थिति नहीं है, उसमें गति भी है।

यद्यपि गति पुद्गल एवं जीव की अपनी क्रियाशक्ति से ही सम्भव है, फिर भी यदि गति के लिए कोई माध्यम नहीं होगा तो गति सम्भव नहीं होगी।

जैन—दार्शनिकों ने इस हेतु धर्मद्रव्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया तो विज्ञान ने 'ईथर' की खोज की।

यद्यपि आधुनिक—खोजों के परिणामस्वरूप विज्ञान में ईथर का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है।

आज ईथर भौतिक नहीं, अपितु अभौतिक बन गया है और इस रूप में वह धर्म—द्रव्य की अवधारणा के अधिक निकट आ गया है।

इस प्रकार जैन दर्शन के षट् द्रव्य—विज्ञान-सम्मत ही है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान की नवीन खोजों के प्रकाश में जैनदर्शन की इन अवधारणाओं को परखा जावे।

आज जैन दर्शन और विज्ञान दोनों ही इस स्थिति में हैं कि वे एक—दूसरे का सहयोग लेकर अपनी गुत्थियों को अधिक सफलतापूर्वक सुलझा सकते हैं।





परमाणु-पुद्गल संस्थान



प्रेमलाल शर्मा : डॉ. शक्तिधर शर्मा
पंजाबी 'युनिवर्सिटी—पतियाला (पंजाब)

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में पू. उपा. श्री विनयत्रिजयगणो जैन-दार्शनिकों में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक माने जाते हैं।

उन्होंने 'श्री लोकप्रकाश' नामक एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा। उस ग्रन्थ में जैन-दार्शनिकों के अभिमत सभी सिद्धान्तों का विवेचन आया जाता है।

यह ग्रन्थ कई भागों में विभक्त है, 'द्रव्य-लोकप्रकाश' भी उनमें एक भाग है, इसके ग्यारहवें सर्ग में 'पुद्गल' पर सारगर्भित विवेचन मिलता है। इस ग्रन्थ की अभी तक कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं है। यदि द्रव्य-लोकप्रकाश के ग्यारहवें सर्ग की व्याख्या की जाय तो अच्छे २ परिणाम आने की सम्भावना है। इस दिशा में हमारा प्रयास जारी है।

इस ग्रन्थ के ग्यारहवें सर्ग में परमाणु-पुद्गल विषयक विवेचन के थोड़ा हिस्सा अपने ढंग से प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

इस लेख में श्लोक बीच में न देकर अन्त में सन्दर्भ के रूप में दिये गये हैं। पारिभाषिक

शब्दों की व्याख्या भी यथा सम्भव पाठकों के सौकर्य के लिए कर दी है।

यहाँ हम पुद्गल की परिभाषा अथवा गुणों का विवेचन नहीं करेंगे। क्योंकि इन विषयों से सम्बन्धित एक लेख * छप चुका है। अतः पुद्गल परिमाण—'संस्थान' का विवेचन ही करेंगे।

पुद्गल के संस्थान-बन्ध-गति आदि दस परिणामों में 'संस्थान' परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं। (१)

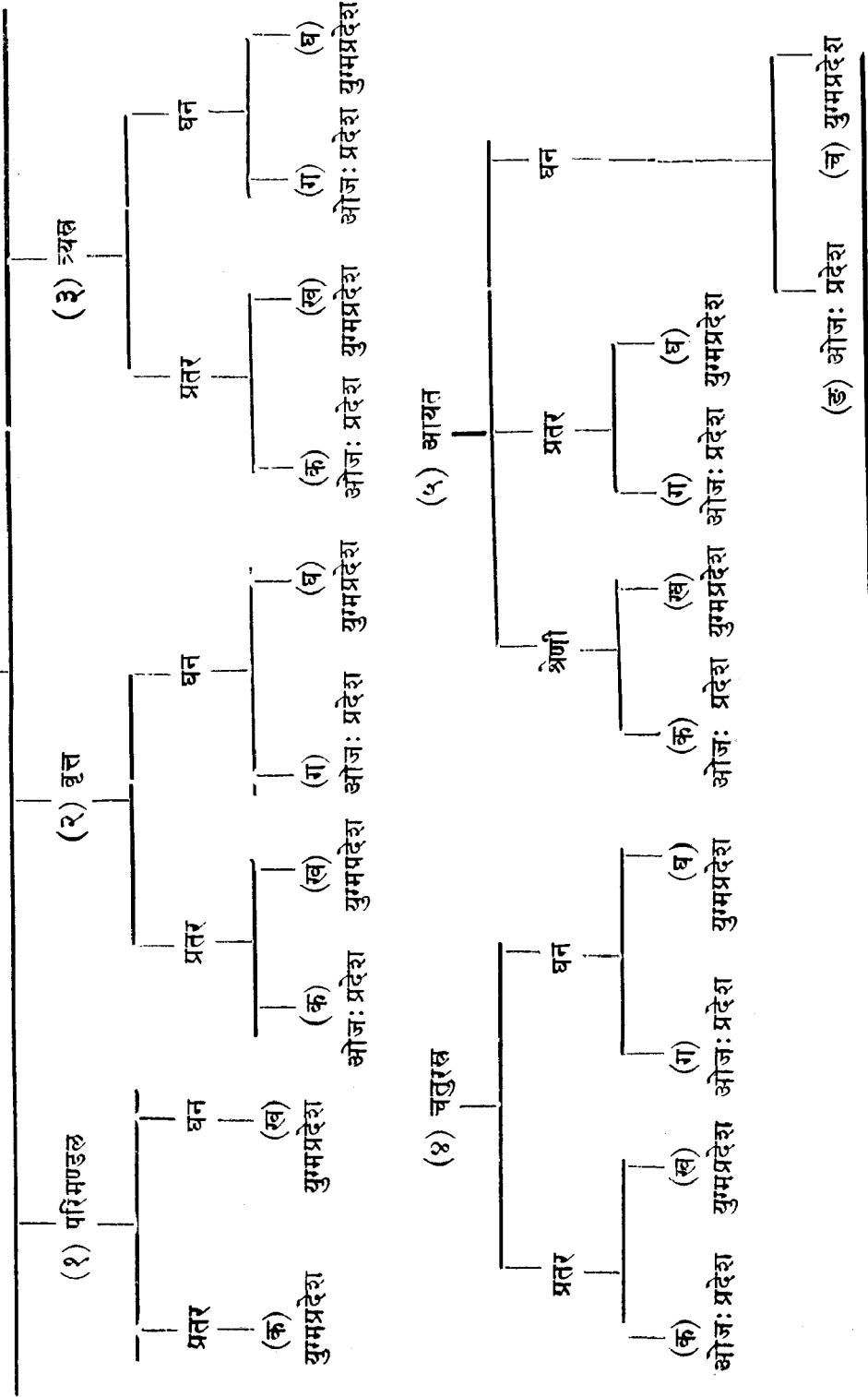
संस्थान से तात्पर्य है—पुद्गलों की आकृति, अर्थात् जिसमें परमाणु-पुद्गल एकत्रित होकर विशिष्ट संघात को धारण करे। ये पुद्गल-संस्थान Solid state Physics x में वर्णित क्रिस्टल-आकृतियाँ से मिलते हैं।

इस प्रकार परमाणु-पुद्गल के पांच संस्थान होते हैं—(१) परिमण्डल (२) वृत्त (३) त्र्यस्र (४) चतुरस्र (५) आयत-संस्थान २

× देखिए—'विश्वसंस्कृतम्' वर्ष १९८० मार्च

* देखिए—Introduction to solid state physics 5th Edition by ckittle.

पुद्गल संस्थान



* ओजः प्रदेशः— अयुग्ममात्रे च । “ ओजे तपरो बरो गुरुत्वेत् ” इत्यादौ अयुग्मपादे प्रयोगात् (वाचस्पत्यम् द्वि० भाग) ।
 प्रथम-तृतीयादौ विषमराशौ अर्थे प्रयोगः ।

(१) परिमण्डल संस्थान—मण्डलाकार में अवस्थित वलयाकार परिमण्डल संस्थान कहलाता है। (३)

(२) वृत्त संस्थान—कुलाल के चक्र की तरह और भीतर से पूर्ण अर्थात् अन्दर से कोई भी भाग रिक्त न हो तो वह वृत्त पुद्गल संस्थान कहलाता है। जैसे—*

(३) त्र्यस्र—सिंघाड़े के रूप को धारण करनेवाला त्र्यस्र=त्रिकोण पुद्गल—संस्थान कहलाता है। (४)

(४) चतुरस्र—कुम्भिका आदि की तरह चार भागों से सन्निविष्ट चतुरस्र—संस्थान कहलाता है।

(५) + आयत—दण्ड की भान्ति लम्बाकार लिये हुए पुद्गल—आयत—संस्थान कहलाता है। (५)

इन संस्थानों में आयत के तीन भेद होते हैं—* श्रेणी, × प्रतर और ° घन। अन्य चार संस्थानों में प्रत्येक के दो दो भेद प्रतर और घन होने से कुल ग्यारह भेद होते हैं। परिमण्डल संस्थान को छोड़कर अन्य चारों संस्थानों के प्रतर और घन भेदों के भी क्रमशः ओज प्रदेश तथा युग्म प्रदेश नामक दो दो भेद

होते हैं। देखिए पृ. ५३ की तालिका—यहाँ *ओजः प्रदेश से तात्पर्य है और युग्म प्रदेश से तात्पर्य है सम।

१—(क) युग्मप्रदेश—प्रतर—परिमण्डल—बीस आकाश प्रदेशों को घेरनेवाले परमाणु पुद्गल संस्थान युग्मप्रदेश—परिमण्डल कहलाता है।

चारों दिशाओं में चार चार परमाणु रखे जाय और विदिशाओं में एक एक परमाणु रखा जाय तो उक्त संस्थान बन जाता है। (६)

(ख) युग्मप्रदेश घन—परिमण्डल—युग्मप्रतर परिमण्डल के ऊपर ही बीस और परमाणुओं को रखा जाय तो युग्म—घन—परिमण्डल संस्थान कहलाता है। (७)

२—(क) ओजः—प्रदेश—प्रतरवृत्त—पाँच अणुओं से उत्पन्न उक्त संस्थान बन जाता है।

क्योंकि वह पाँच आकाश प्रदेशों को घेरे हुए रहता है। इसके चारों दिशाओं में एक एक परमाणु प्रतिष्ठित रहता है और एक मध्य भाग में स्थित रहता है। ८

(ख) युग्म—प्रदेशप्रतरवृत्त—बारह प्रदेशों को अवगाहित किये हुए बारह परमाणुओं का युग्म—प्रदेश प्रतरवृत्त कहलाता है।

+ आयत लम्बा इति भाषा (आङ्ग+यम्+लः) विस्तृतः, विशाल आकृष्ट वा।

* श्रेणी : पुं० स्त्री (श्रयति श्रीयते वा) पंक्ति : विलोली० वीथी आलिः राजिः रेखाका

× प्र+तृ भावे अप् प्रकषेण तरणे आधारे प्रवरणाधारे

० पुं० हन् मूर्ती, अप् घनादेशश्च, मेघे, मस्तके, समूहे दीर्घे, विस्तरे च वाचस्वत्यम् द्वि० भाग, प्रिट्ट—१९६२

चार आकाश प्रदेशों में रुचक-आकार (चूड़ी के सदृश) से परमाणु रखे जाँय। वे रुचकाकार में दो दो परमाणु प्रत्येक दिशा में रखे जाय तो यह संस्थान बन जाता है। (९)

(ग) ओजः-प्रदेश-घन-वृत्त-सात आकाश-प्रदेशों को अवगाहित किये हुए सात अणुओं के पुञ्ज को ओजःप्रदेशघनवृत्त कहते हैं।

अर्थात् ओजः-प्रदेश-प्रतरवृत्त के पाँच अणुओं के मध्य भागवाले अणु के ऊपर और नीचे एक एक अणु रखने से यह संस्थान बनता है। (१०)

(घ) युग्म-प्रदेश-घनवृत्त-बत्तीस आकाश प्रदेशों को घेरे हुए बत्तीस परमाणुओं का पुञ्ज युग्मप्रदेश घनवृत्त कहलाता है।

युग्मप्रदेश-प्रतरवृत्त के बारह अणुओं के ऊपर ही बारह और अणुओं को रखकर चौबीस अणु हो जाते हैं। उनके मध्य भाग में चार ऊपर और चार नीचे रखने से बत्तीस अणुओं का यह संस्थान बनता है। (११)

३-(क) ओजः-प्रदेशप्रतर-त्र्यस्र-तीन आकाश प्रदेशों को अवगाहित किये हुए तीन परमाणु-पुद्गलों से यह संस्थान बनता है।

दो परमाणुओं को एक पंक्ति में रखा जाय और एक परमाणु नीचे की ओर रखा जाय तो ओजः-प्रदेश-प्रतर-त्र्यस्र कहलाता है। (१२)

(ख) युग्मप्रदेशप्रतर-त्र्यस्र-छह आकाश प्रदेशों को अवगाहित किये हुए छह अणुओं-वाला संस्थान युग्म-प्रदेशप्रतरत्र्यस्र कहलाता है।

एक पंक्ति में तीन अणु रखे जाँय और तीनों के बीच में एक ऊपर और एक नीचे की ओर रखा जाय तो यह संस्थान बन जाता है। (१३)

(ग) ओजः-प्रदेशघन-त्र्यस्र-पैंतीस आकाश-प्रदेशों को अवगाहित किये हुए पैंतीस परमाणुओं का उक्त संस्थान बनता है।

पाँच परमाणुओं को टेढ़ी पंक्ति में रखा जाय। दूसरी पंक्ति में उसी प्रकार चार परमाणुओं को रखा जाय उसके ऊपर फिर दो और फिर अन्त में एक परमाणु रखा जाय तो पन्द्रह परमाणुओं की संख्या बन जाती है।

उसके बाद, नीचे से लेकर ऊपर की पंक्ति तक आखिरी आखिरी परमाणु को छोड़कर नीचे से ही ऊपर की ओर क्रमशः दस, छह, तीन और एक परमाणु स्थापित किये जाने से ओजः प्रदेश-घनत्र्यस्र संस्थान कहलाता है। (१४)

(घ) युग्म-प्रदेश-घन-त्र्यस्र-चार आकाश प्रदेशों को अवगाहित करनेवाले चार परमाणुओं का उक्त संस्थान बनता है।

ओजः-प्रदेश-प्रतर-त्र्यस्र के तीन अणुओं में से किसी एक के ऊपर एक और परमाणु रखने से यह संस्थान बनता है। (१५)

४-(क) ओजः-प्रदेश-प्रतर-चतुरस्र-नौ आकाश प्रदेशों को अवगाहित करते हुए नौ परमाणुओं से यह संस्थान बनता है। (१६)

तीने टेढ़ी पंक्तियों में तीन तीन परमाणुओं को रखे जाने पर ओजः-प्रदेश-प्रतर-चतुरस्र बनता है। (१६)

(ख) युग्म-प्रदेशप्रतर-चतुरस्रः-चार-आकाश प्रदेशों को घेरे हुए चार परमाणुओं से यह संस्थान बनता है ।

सीधी दो पंक्तियों में दो दो अणु विद्यमान होने पर युग्मप्रदेश प्रतरचतुरस्र बनता है। (१७)

(ग) ओजः-प्रदेश-घनचतुरस्रः-सत्ताइस आकाश प्रदेशों को अवगाहित करनेवाले सत्ता-इस परमाणुओं से ओजः-प्रदेश-घन-चतुरस्र बनता है ।

ओजः-प्रदेश-प्रतर-चतुरस्र संस्थान के नौ परमाणुओं के ऊपर और नीचे नौ नौ परमाणुओं के विद्यमान होने पर उक्त संस्थान बनता है । (१८)

(घ) युग्म-प्रदेश-घन-चतुरस्रः-आठ आकाशप्रदेशों को अवगाहित करते हुए आठ परमाणुओं का उक्त संस्थान बनता है ।

युग्मप्रदेश-प्रतर-चतुरस्र विद्यमान होने से युग्मप्रदेश-घन-चतुरस्र बनता है । (१९)

५-(क) ओजः-प्रदेश-श्रेणी-आयत-सीधी पंक्ति में तीन आकाश प्रदेशों को घेरे हुए तीन परमाणुओं का ओजः प्रदेश श्रेणी आयत संस्थान बनता है । (२०)

(ख) युग्म-प्रदेश-श्रेणी आयतः-दो आकाश प्रदेशों युग्मप्रदेशों को घेरे अवगाहित करते हुए सीधी पंक्ति में विद्यमान दो परमाणुओं से यह संस्थान बनता है ! (२१)

(ग) ओजः-प्रदेश-प्रतर-आयतः-पन्द्रह आकाश प्रदेशों को अवगाहित करते हुए तीन

पंक्तियों में पांच पांच अणुओं के विद्यमान रहने से यह संस्थान बनता है । (२२)

(घ) युग्म-प्रदेश-प्रतर-आयत-छः आकाश प्रदेशों को घेरे हुए दो पंक्तियों में तीन तीन परमाणुओं के विद्यमान होने से यह संस्थान बनती है । (२३)

(ङ) ओजः-प्रदेश-घन-आयत-पैंतालीस आकाश प्रदेशों को अवगाहित किये हुए पैंतालीस अणुओं से यह संस्थान बनता है ।

ओजः-प्रदेश-प्रतर-आयत-संस्थान के ही पन्द्रह परमाणुओं के ऊपर और नीचे पन्द्रह ही परमाणुओं के विद्यमान होने से युग्म-प्रदेश-प्रतर-आयत बनता है । (२४)

(च) युग्म-प्रदेश-घन-आयत-बारह आकाशप्रदेशों को अवगाहित करते हुए बारह परमाणुओं से युग्म-प्रदेश-घन-आयत बनता है ।

युग्म-प्रदेश-प्रतरायत के छह परमाणुओं के ऊपर ही छह और परमाणुओं के विद्यमान होने पर युग्म-प्रदेश-घन-आयत बनता है । (२५)

लेखका आधारभूत संदर्भ ग्रंथ

श्री द्रव्यलोक प्रकाश-ग्यारहवें सर्ग से

१ पुद्गलानां दशविधः परिणामोऽथ कथ्यते ।

बन्धनाख्यो गतिनाम संस्थानाख्यः तथा परः ॥२२॥

मेदाख्यः परिणामः स्याद्, वर्ण-गन्ध-रसाभिधाः ।

स्पर्शाऽगुरुलघुः शब्द-परिणामादशेत्यमीत ॥२३॥

२ परिमण्डलं च वृत्तं, त्र्यस्रं च चतुरस्रकम् ।

आयतं च रूपजीव संस्थानं पञ्चधा मतम् ॥४८॥

- ३-मण्डलावस्थाण्वोधं, बहिः शुभिरमन्तरे ।
वलयस्येव तु ज्ञेयं, संस्थानं परिमण्डलम् ॥४९॥
- ४-अन्तःपूर्णं तदेव स्याद् वृत्तं कुलालचक्रवत् ।
त्र्यस्रं शृङ्गवत् कुम्भिकादिवच्चतुरस्रकम् ॥५०॥
- ५-आयतं दण्डवद् दीर्घं, घन-प्रतरभेदतः ।
चत्वारि स्युर्द्विधाः संस्थानानि प्रत्येकमादितः ॥५१॥
आयतं तु त्रिधा श्रेणि-घन-प्रतरभेदतः ।
ओज-युगम-प्रदेशानि,
द्वेधाऽमूनिविनाऽऽदिमम् ॥५२॥
- ६ विशत्यभ्रांशावगाढं, विशत्यंशात्मकं भवेत् ।
युगप्रदेशं प्रतर-परिमण्डलनामकम् ॥५३॥
चतुर्दिशं तु चत्वारश्चत्वारः परमाणवः ।
विदिक्षु स्थाप्य एकैको, भवेदेवं कृते सति ॥५४॥
- ७ अणूनां विशतेरेषामुपर्यणुषु विशतौ ।
स्थापितेषु युगजातं, स्याद् घनं परिमण्डलम् ॥५५॥
- ८ ओज-प्रदेशं-प्रतरवृत्तं पञ्चाणुसम्भवम् ।
पञ्चाकशप्रदेशावगाढं च परिकीर्तितम् ॥५६॥
यत्र प्रदेशाश्चत्वार-श्चतुर्दिशं प्रतिष्ठिताः ।
एकः प्रदेशोऽन्त-वृत्तप्रतरं तद् यथोदितम् ॥५७॥
- ९ युगप्रदेशं प्रतर-वृत्तं च द्वादशाणुकम् ।
तावद्भ्रांशावगाढं, तच्चैवमिह जायते ॥५८॥
चतुर्षु अभ्रप्रदेशेषु, चत्वारोऽशा निरन्तरम् ।
स्थाप्यन्ते रुचकाकारास्तत् परिक्षेपतस्ततः ॥५९॥
द्वौ द्वौ चतुर्दिशं स्थाप्यौ, प्रदेशौ जायते ततः ।
युगप्रदेशं प्रतर-वृत्तमुक्तं पुरातनैः ॥६०॥
- १० सप्ताणुकं सप्तखांशावगाढं च भवेदिह ।
ओजप्रदेशनिष्पन्नं, घनवृत्तं हि तद् यथा ॥६१॥
पञ्चप्रदेशे प्रतरवृत्ते किल पुरोदिते ।
अध ऊर्ध्वं च मध्याणोरेकैकोऽणुनिर्दिश्यते ॥६२॥

- ११ द्वात्रिंशदणुसम्पन्नं, तावत् खांशावगाढकम् ।
युगप्रदेशं हि घनवृत्तं भवति तद् यथा ॥६०॥
उक्तप्रतरवृत्तस्य, द्वादशांशात्मकस्य वै ।
उपरिष्ठाद् द्वादशान्ये, स्थाप्यन्ते परमाणवः ॥६१॥
ततः पुनर्मध्यमाणु-चतुष्कस्याप्युपर्यधः ।
स्थाप्यन्ते किलचत्वार-श्चत्वारः परमाणवः ॥६२॥
- १२ ओजः-प्रदेशं प्रतर-त्र्यस्रं तु त्रिप्रदेशकम् ।
त्रिप्रदेशावगाढं च, तदेवं जायते यथा ॥६३॥
स्थाप्येते द्वावणू पंक्या, एकस्याधस्ततः परम् ।
एकोऽणुः स्थाप्यत इति निर्दिष्टं शिष्टदृष्टिभिः ॥६४॥
- १३ युगप्रदेशं प्रतरत्र्यस्रं तु षट्प्रदेशकम् ।
षट्प्रदेशावगाढं च तदेवं किल जायते ॥६५॥
त्रयः प्रदेशाः स्थाप्यन्ते, पङ्क्त्याऽणुद्वितयं ततः ।
आद्यस्याधो द्वितीयस्य, त्वध एको निवेश्यते ॥६६॥
- १४ ओजाणुकं घनत्र्यस्रं, पञ्चत्रिंशत्प्रदेशकम् ।
पञ्चत्रिंशत्-स्वप्रदेशा-वगाढं च भवेद् यथा ॥६७॥
तिर्यङ् निरन्तराः पञ्च, स्थाप्यन्ते परमाणवः ।
तानधोऽधः क्रमेणैवं, स्थाप्यन्ते परमाणवः ॥६८॥
तिर्यगेव हि चत्वारस्त्रयो द्वावेक एव च ।
जातोऽयं प्रतरः पञ्चदशांशः पञ्चपंक्तिकः ॥६९॥
ततश्चास्योपरि सर्व-पंक्तिष्वन्त्यान्त्यमंशकम् ।
विमुच्यांशा दश स्थाप्या-स्तस्याप्युपरि षट् तथा ॥७०॥
इत्थमेव तदुपरि, त्रय एकस्ततः पुनः ।
उपर्यस्यापीति पञ्चत्रिंशत्स्युः परमाणवः ॥७१॥
- १५ युगप्रदेशं तु घनत्र्यस्रं चतुष्प्रदेशकम् ।
चतुर्व्योमांशावगाढं, तदप्येवं भवेदिह ॥७२॥
पूर्वोक्ते प्रतरत्र्यस्रे, त्रिप्रदेशात्मके किल ।
अणोरेकस्योर्ध्वमेकः स्थाप्यते परमाणुकः ॥७३॥

- १६ ओजःप्रदेशं प्रतर—चतुरस्रं नवांशकम् ।
नवाकाशांशावगाढ, मिथं तदपि जायते ॥७४॥
तिर्यग् निरन्तरं तिस्रः पंक्यस्त्रिप्रदेशिकाः ।
स्थाप्यन्ते तर्हि जायेत, चतुरस्रमयुग्मजम् ॥७५॥
- १७ युग्मप्रदेशं प्रतर—चतुरस्रं तु तद् भवेत् ।
चतुरभ्रांशावगाढं, चतुःप्रदेशसम्भवम् ॥७६॥
द्वि—द्विप्रदेशे द्वे पंक्ती, स्थाप्येते तत्र जायते ।
युग्मप्रदेशं प्रतर—चतुरस्रं यथोदितम् ॥७७॥
- १८ सप्तविंशत्यणुजातं तावदभ्रांशसंस्थितम् ।
ओजःप्रदेशं हि घन—चतुरस्रं भवेदिह ॥७८॥
नवप्रदेशप्रतरं, चतुरस्रस्य तस्य वै ।
उपर्यधो नव नव, स्थाप्यन्ते परमाणवः ॥७९॥
- १९ अष्टव्योमांशावगाढं, स्पष्टमष्टप्रदेशकम् ।
युग्मप्रदेशं तु घन—चतुरस्रं भवेद् यथा ॥८०॥
चतुःप्रदेशप्रतर—चतुरस्रस्य चोपरि ।
चतुःप्रादेशिकोऽन्योऽपि, प्रतरः स्थाप्यते किल ॥८१॥
- २० ओजःप्रदेशजं श्रेण्या—यतं स्यात् त्रिप्रदेशजम् ।
त्र्यंशावगाढमणुषु, त्रिषु न्यस्तेषु संततम् ॥८२॥
- २१ निरन्तरं स्थापिताभ्या—मणुभ्यां द्विप्रदेशजम् ।
युग्मप्रदेशजं श्रेण्या—यतं द्वयभ्रांशसंस्थितम् ॥८३॥
- २२ ओजःप्रदेशं प्रतरा—यतं पञ्चदशांशकम् ।
तावद्व्योमांशावगाढ—मिथं तदपि जायते ॥८४॥
पंक्तित्रयेऽपि स्थाप्यन्ते पञ्च पञ्चाणवस्तदा ।
ओजःप्रदेशजनितं, भवति प्रतरायतम् ॥८५॥
- २३ षट्स्त्रांशस्थं षट्प्रदेशजं स्याद्—युग्मप्रतरायतम् ।
त्रिषु त्रिषु द्वयोः पंक्योः न्यस्तेषु परमाणुषु ॥८६॥
- २४ पञ्चचत्वारिंशदंश—मोजाणुकं घनायतम् ।
पञ्चचत्वारिंशदभ्र—प्रदेशेषु प्रतिष्ठितम् ॥८७॥
- २५ षडंशस्य च प्रतरा—यतस्योपरि विन्यसेत् ।
षट्प्रदेशांस्ततो युग्म—प्रदेशं स्याद् घनायतम् ॥८८॥

तत्त्वज्ञान की गंभीरता

सभी द्रव्यों के मौलिक स्वरूप की चिंतना यथार्थ दृष्टि से करनेके लिए वस्तुके अनंतधर्मात्मक स्वरूप को प्रमाणवाक्य से समझने के साथ नयवाक्य से प्रत्येक धर्मके गौण—मुख्य भावकी भूमिका अपनाने की गंभीरता विचारों में विकसित न हो तो किसीभी वस्तु का मौलिक यथार्थ ज्ञान होना कठिन है ।



सप्तभंगी : स्वरूप और दर्शन

— श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री



अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की चिन्तन-धारा का मूल स्रोत है, जैन दर्शन का हृदय है; जैन वाङ्मय का एक भी ऐसा वाक्य नहीं जिसमें अनेकान्तवाद का प्राण-तत्त्व न रहा हो। यदि यह कह दिया जाय तो तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि “जहाँ पर जैनधर्म है वहाँ पर अनेकान्तवाद है और जहाँ पर अनेकान्तवाद है वहाँ पर जैन धर्म है।” जैनधर्म और अनेकान्तवाद एक दूसरे के पर्यायवाची है। यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने अपने सम्मति प्रकरण ग्रंथ में अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए उसे त्रिभुवन का—अखिल ब्रह्माण्ड का गुरु कहा है। अनेकांत के बिना संसार का कोई भी व्यवहार समीचीन रूप में सिद्ध नहीं हो सकता^१।

सांख्यदर्शन का पूर्ण विकास प्रकृति और पुरुषवाद में हुआ है। वेदान्त-दर्शन का उत्कृष्ट विकास चिद्-अद्वैत में हुआ है। बौद्ध-दर्शन का महान् विकास विज्ञानवाद में हुआ है। वैसे ही जैनदर्शन का चरम विकास अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद में हुआ है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को समझने के पूर्व प्रमाण और नय को

समझना चाहिए। प्रमाण और नय तभी अच्छी तरह से समझ में आ सकते हैं जब सप्तभंगी को ठीक तरह से समझा जाय। प्रमाण और नय की विवक्षा वस्तुगत अनेकान्त के परिबोध के लिए और सप्तभंगी की व्यवस्था तत्प्रतिपादक वचन पद्धति के परिज्ञान के लिए है। प्रमाण और नय के संबंध में यहाँ विशेष प्रकाशन न डालकर सप्तभंगी के संबंध में विवेचन करेंगे।

सप्तभंगी

प्रश्न है—सप्तभंगी क्या है? उसका क्या प्रयोजन है? उसका क्या उपयोग है?

इन सभी प्रश्नों के उत्तर जैनाचार्यों ने दिये हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु के किसी भी एक धर्म के स्वरूप—कथन में सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जा सकता है। इसी को सप्तभंगी कहते हैं^२।

वस्तु के यथार्थ परिज्ञान के लिए नय और प्रमाण की नितान्त आवश्यकता है। नय और प्रमाण से ही यथार्थ ज्ञान होता है।^३ अधिगम भी स्वार्थ और परार्थ रूप से दो प्रकार का है। ज्ञानात्मक स्वार्थ है और शब्दात्मक परार्थ है।

१ सम्मति प्रकरण काण्ड ३, गा० ६९

२ (क) स्याद्वाद मंजरी का०, २३ की टीका (ख) सप्तभंगी तरंगिणी पृ०-१. ३ तत्त्वार्थ सूत्र १।६

दूसरों के परिज्ञान के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है, अतः भंग का प्रयोग परार्थ है। परार्थ अधिमम भी प्रमाण—वाक्य और नय—वाक्य के रूप में दो प्रकार का है। इसी आधार से प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी ये दो भेद किये गये हैं^४। प्रमाणवाक्य सकलादेश है, क्योंकि उससे समग्र—धर्मात्मक वस्तु का प्रधान रूप से बोध होता है। नयवाक्य विकलादेश है, क्योंकि उससे वस्तु के एक धर्म का ही बोध होता है। जैनदृष्टि से वस्तु अनन्त धर्मात्मक है^५।

आ. मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में वस्तु की परिभाषा करते हुए लिखा—जिसमें गुण और पर्याय रहते हो वह वस्तु है। तत्त्व, पदार्थ और द्रव्य ये वस्तु के पर्यायवाची हैं।^६

आचार्य अकलंक ने सप्तभंगी की परिभाषा इस प्रकार की है—प्रश्न समुत्पन्न होने पर एक वस्तु में अविरोध—भाव से जो एक—धर्म विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहा जाता है^७।

वस्तु के एक—धर्म सम्बन्धी प्रश्न सात ही प्रकार से हो सकते हैं, इसलिए भंग भी सात ही हैं। जिज्ञासा सात ही प्रकार की होती है, इसलिए प्रश्न भी सात ही प्रकार के होते हैं। शंकाएँ भी सात ही प्रकार होती हैं, इसलिए जिज्ञासाएँ भी सात ही प्रकार की होती हैं। किसी भी एक ही धर्म के विषय में सात ही

भंग होने से सप्तभंगी कहते हैं। गणित के नियम के अनुसार भी तीन मूल वचनों के संयोगी, असंयोगी और अपुनरुक्त ये सात भंग ही हो सकते हैं, न अधिक होते हैं न कम। भंग का अर्थ विकल्प, प्रकार और भेद हैं।

सप्तभंगी और अनेकान्त

वस्तु अनेकान्तात्मक है और उसको प्रतिपादित करनेवाली निर्दोष भाषा—पद्धति स्याद्वाद है। उसीमें सप्तभंगी का रहस्य रहा हुआ है। अनेकान्त—दृष्टि से हर एक वस्तु में सामान्य रूप से, विशेष रूप से, भिन्नता की अपेक्षा से, अभिन्नता की अपेक्षा से, नित्यत्व की दृष्टि से अनित्यत्व की दृष्टि से, सत्ता रूप में, असत्ता रूप में अनन्त धर्म है। प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है। दो प्रतिपक्षी—धर्मों में परस्पर विरोध नहीं होता, क्योंकि वे अपेक्षा भेद से सापेक्ष होते हैं। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान ही अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन है। अनेकान्त अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है और स्याद्वाद या सप्तभंगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा को सूचन करनेवाली एक वचन—पद्धति है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है, उसे समझाने का एक उपाय है। क्षेत्र की दृष्टि से अनेकान्त व्यापक है, विषय प्रतिपादन की दृष्टि से स्याद्वाद व्याप्य है। दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध रहा हुआ है।

४ सप्तभंगी तरंगिणी, पृ० १

५ अन्ययोग व्यवच्छेदिका कारिका २२

६ स्याद्वाद मंजरी कारिका २३ वृत्ति

७ तत्त्वार्थ राजवार्तिक १६।५१

स्याद्वाद के भंगों का आगमकालीन रूप

आगम साहित्य में जिस प्रकार स्याद्वाद का रूप बताया गया है उसी का हम यहाँ निरूपण करेंगे, जिससे यह ज्ञात हो सके कि सप्तभंगी का रूप नूतन नहीं है, किन्तु आगम साहित्य में उस पर चर्चा की गई है। बाद के आचार्यों ने उन्हीं भंगों का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया है।

श्री गौतम ने प्रश्न किया—भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है ?

उत्तर में भगवान ने कहा—

- (१) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है।
- (२) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा नहीं है।
- (३) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् अवक्तव्य है।

इन तीनों भंगों को सुनकर गौतम ने भगवान से पुनः प्रश्न किया कि आप एक ही पृथ्वी को इतने प्रकार से किस अपेक्षा से कहते हैं ?

उत्तर में भगवान ने कहा—

- (१) आत्मा के आदेश से आत्मा है।
- (२) पर के आदेश से आत्मा नहीं है।
- (३) उभय के आदेश से अवक्तव्य है।

श्रीगौतम ने रत्नप्रभा की भांति अन्य पृथ्वियों, देवलोक और सिद्धशिला के सम्बन्ध में पूछा है, और उत्तर भी उसी प्रकार प्राप्त हुआ। उसके बाद परमाणु के सम्बन्ध में भी पूछा, पूर्ववत् ही उत्तर मिला। किन्तु जब उन्होंने द्विप्रदेशिक स्कंध के विषय में पूछा, तब प्रभु महावीर ने उत्तर इस प्रकार दिया, जिसमें भंगों का आधिक्य है—

- (१) द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है।
- (२) द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा नहीं है।
- (३) द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् अवक्तव्य है।
- (४) द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है और आत्मा नहीं है।
- (५) द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है और अवक्तव्य है।
- (६) द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इन भंगों की योजना के अपेक्षा कारण के संबंध में श्री गौतम के प्रश्न के उत्तर में प्रभु महावीर ने कहा—

- (१) द्विप्रदेशी स्कंध आत्मा के आदेश से आत्मा है।
- (२) पर के आदेश से आत्मा नहीं है।
- (३) उभय के आदेश से अवक्तव्य है।
- (४) एकदेश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और दूसरा अंश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है, अतः द्विप्रदेशी स्कंध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

(५) एकदेश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और एकदेश उभय—पर्यायों से आदिष्ट है, अतएव द्विप्रदेशी स्कंध आत्मा है और अवक्तव्य है।

(६) एकदेश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और दूसरा देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है। अतः द्विप्रदेशी स्कंध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

उसके पश्चात् श्री गौतम ने त्रिप्रदेशिक स्कंध के विषय में वैसा ही प्रश्न पूछा, उसका उत्तर निम्न प्रकार से दिया—

- (१) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है ।
 - (२) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा नहीं है ।
 - (३) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् अवक्तव्य है ।
 - (४) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है और आत्मा नहीं है ।
 - (५) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है और दो आत्मा नहीं है ।
 - (६) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् (दो) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है ।
 - (७) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है और अवक्तव्य है ।
 - (८) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है और (दो) अवक्तव्य है ।
 - (९) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् (दो) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है ।
 - (१०) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।
 - (११) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य है ।
 - (१२) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् (दो) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है ।
 - (१३) त्रिप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।
- श्री गौतम ने जब पूछा कि भगवन् आप ये भंग किस अपेक्षा से बताते हैं ? श्री तब भगवान ने उत्तर दिया—

- (१) त्रिप्रदेशी स्कंध आत्मा के आदेश से आत्मा है ।
- (२) त्रिप्रदेशी स्कंध पर के आदेश से आत्मा नहीं है ।
- (३) त्रिप्रदेशी स्कंध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है ।
- (४) एक देश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है । इसलिए त्रिप्रदेशी स्कंध आत्मा है और आत्मा नहीं है ।
- (५) एक देश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और दो देश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है, अतः त्रिप्रदेशीय स्कंध आत्मा है और दो आत्माएँ नहीं है ।
- (६) दो देश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है, अतएव त्रिप्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ हैं, और आत्मा नहीं है ।
- (७) एक देश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और दूसरा देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है, अतः त्रिप्रदेशी स्कंध आत्मा है और अवक्तव्य है ।
- (८) एक देश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और दो देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है, अतः त्रिप्रदेशी स्कंध आत्मा है और (दो) अवक्तव्य है ।
- (९) दो देश सद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए त्रिप्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ हैं और और अवक्तव्य है ।

(१०) एक देश आदिष्ट है, असद्भाव-पर्यायों से और दूसरा देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से । अतएव त्रिप्रदेशी-स्कंध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है । -

(११) एकदेश आदिष्ट है, असद्भाव-पर्यायों से और दो देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से । अतएव त्रिप्रदेशी-स्कंध आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य है ।

(१२) दो देश असद्भाव-पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभय-पर्यायों से आदिष्ट है, अतः त्रिप्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है ।

(१३) एक देश सद्भाव-पर्यायों से आदिष्ट है एक देश असद्भाव-पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभय-पर्यायों से आदिष्ट है, अतएव त्रिप्रदेशी स्कंध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

इसके पश्चात् श्री गौतम ने चतुष्प्रदेशी स्कंध के सम्बन्ध में वही प्रश्न किया । उत्तर में भगवान ने १९ भंग किये । श्री गौतम ने पुनः अपेक्षा कारण के विषय में पूछा, तब निम्न उत्तर का प्रदान किया—

(१) चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा के आदेश से आत्मा है ।

(२) चतुष्प्रदेशी स्कंध पर के आदेश से आत्मा नहीं है ।

(३) चतुष्प्रदेशी स्कंध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है ।

(४) एक देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और एक देश आदिष्ट है असद्भाव-पर्यायों

से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा है और आत्मा नहीं है ।

(५) एक देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट है असद्भाव-पर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा है और (अनेक) आत्माएँ नहीं है ।

(६) अनेक देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और एक देश आदिष्ट है असद्भाव-पर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कंध (अनेक) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं हैं ।

(७) दो देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और दो देश आदिष्ट है असद्भाव-पर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ है और (दो) आत्माएँ नहीं है ।

(८) एक देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा है और अवक्तव्य है ।

(९) एक देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा है और (अनेक) अवक्तव्य है ।

(१०) अनेक देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से अतः चतुष्प्रदेशी स्कंध (अनेक) आत्माएँ है और अवक्तव्य है ।

(११) दो देश आदिष्ट है सद्भाव-पर्यायों से और दो देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से, अतः चतुष्प्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ है और (दो) अवक्तव्य है ।

(१२) एक देश आदिष्ट है असद्भाव—पर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभय—पर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

(१३) एक देश आदिष्ट है असद्भाव—पर्यायों से और अनेक देश आदिष्ट है तदुभय—पर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं ।

(१४) अनेक देश आदिष्ट हैं असद्भाव—पर्यायों से और एक देश आदिष्ट हैं तदुभय—पर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कंध (अनेक) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है ।

(१५) दो देश आदिष्ट है असद्भाव—पर्यायों से और दो देश आदिष्ट हैं तदुभय—पर्यायों से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ नहीं है और (दो) अवक्तव्य है ।

(१६) एक देश सदभाव—पर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है, और एक देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा है, नहीं है और अवक्तव्य है ।

(१७) एक देश सदभाव—पर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और दो देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा है, नहीं है और (दो) अवक्तव्य है ।

(१८) एक देश सदभाव—पर्यायों से आदिष्ट है, दो देश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए

चतुष्प्रदेशी स्कंध आत्मा है, (दो) नहीं है और अवक्तव्य है ।

(१९) दो देश सदभाव—पर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव—पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभय—पर्यायों से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ है, नहीं है और अवक्तव्य है ।

इसके पश्चात् पंच—प्रादेशिक स्कंध के संबंध में वे ही प्रश्न हैं, और भिन्न—भिन्न अपेक्षाओं के साथ श्री भगवान् २२ भंगों में उत्तर प्रदान करते हैं—

(१) पंच प्रदेशी स्कंध आत्मा के आदेश से आत्मा है ।

(२) पंच प्रदेशी स्कंध पर के आदेश से आत्मा नहीं है ।

(३) पंच प्रदेशी स्कंध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है ।

(४), (५), (६) ये तीन भंग चतुष्प्रदेशी स्कंध के समान है ।

(७) दो या तीन देश आदिष्ट है सदभाव—पर्यायों से और दो या तीन देश आदिष्ट है असद्भाव—पर्यायों से अतएव पंच—प्रदेशी स्कंध (दो या तीन) आत्माएँ हैं और (दो या तीन) आत्माएँ नहीं है । [सद्भाव—पर्यायों में यदि दो देश लेने हों तो असद्भाव—पर्यायों में तीन देश लेने चाहिए और सदभाव—पर्यायों में यदि तीन देश लेने हों तो असद्भाव—पर्यायों में दो देश लेने चाहिए ।]

(८, ९, १०) ये तीन भंग चतुष्प्रदेशी स्कंध के समान है ।

(११) दो या तीन देश आदिष्ट है सदभाव-पर्यायों से और दो या तीन आदिष्ट है तदुभयपर्यायों से, अतएव पंचप्रदेशी स्कंध (दो या तीन) आत्माएँ हैं और (दो या तीन) अवक्तव्य है।

(१२, १३, १४) ये तीन भंग भी चतुष्प्रदेशी स्कंध के समान है,

(१५) दो या तीन देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से और दो या तीन देश आदिष्ट है असदभाव-पर्यायों से, अतएव पंचप्रदेशी स्कंध (दो या तीन) अवक्तव्य है और (दो या तीन) आत्माएँ नहीं है।

(१६) यह भंग भी चतुष्प्रदेशी स्कंध के समान है।

(१७) एक देश सदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है, एक देश असदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है, और अनेक देश तदुभय-पर्यायों से आदिष्ट है; अतः पंचप्रदेशी स्कंध आत्मा है, आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य है।

(१८) एक देश सदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है, अनेक देश असदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है और एक देश तदुभय-पर्यायों से आदिष्ट है; अतः पंचप्रदेशी स्कंध आत्मा है अनेक आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है।

(१९) एक देश सदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है, दो देश असदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है और दो देश तदुभय-पर्यायों से आदिष्ट है, अतः पंचप्रदेशी स्कंध आत्मा है (दो) आत्माएँ नहीं है और (दो) अवक्तव्य है।

(२०) अनेक देश आदिष्ट है सदभाव-पर्यायों से, एक देश आदिष्ट है असदभाव-पर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से, अतः पंचप्रदेशी स्कंध (अनेक) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

(२१) दो देश आदिष्ट है सदभाव-पर्यायों से, एक देश आदिष्ट है असदभाव-पर्यायों से और दो देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से; अतः (दो) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है और (दो) अवक्तव्य है।

(२२) दो देश आदिष्ट हैं सदभाव पर्यायों से, दो देश आदिष्ट है असदभाव-पर्यायों से और एक देश आदिष्ट है तदुभय-पर्यायों से, अतः पंचप्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ नहीं है और अवक्तव्य है।

इसी प्रकार षट्प्रदेशी स्कंध के २३ भंग किये गए हैं, बावीस भंग तो पहले के समान ही है और २३ वाँ भंग निम्न प्रकार है—

दो देश सदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है, दो असदभाव-पर्यायों से आदिष्ट है और दो देश तदुभय-पर्यायों से आदिष्ट है, इसीलिए षट्प्रदेशी स्कंध (दो) आत्माएँ हैं, (दो) आत्माएँ नहीं है और (दो) अवक्तव्य है।

उपर्युक्त भंगों का अवलोकन करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि स्याद्वाद से फलित होनेवाली सप्तभंगी वाद के आचार्यों की देन नहीं है। पं. दलसुख मालवणिया ने लिखा है—

(१) विधिरूप और निषेधरूप इन्हीं दोनों विरोधी धर्मों को स्वीकार करने में ही स्याद्वाद के भंगों का उत्थान है।

(२) दो विरोधी धर्मों के आधार पर विवक्षा—भेद से शेष भंगों की रचना होती है।

(३) मौलिक दो भंगों के लिये और शेष सभी भंगों के लिये अपेक्षा कारण अवश्य चाहिये। प्रत्येक भंग के लिये स्वतन्त्र दृष्टि या अपेक्षा का होना आवश्यक है। प्रत्येक भंग को स्वीकार क्यों किया जाता है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण जिससे हो वह अपेक्षा है, आदेश है या दृष्टि है या नय है।

(४) इन्हीं अपेक्षाओं को सूचन करने के लिए, प्रत्येक भंगवाक्य में “स्यात्” ऐसा पद रखा जाता है। इसी से यह वाद “स्याद्वाद” कहलाता है, इस और अन्य सूत्र के आधार से इतना निश्चित है कि जिस वाक्य में साक्षात् अपेक्षा का उपादन हो वहाँ “स्यात्” का प्रयोग किया नहीं गया और जहाँ अपेक्षा का साक्षात् उपादान नहीं है, वहाँ स्यात् का प्रयोग किया गया है, अतएव अपेक्षा का द्योतन करने के लिए “स्यात्” पद का प्रयोग करना चाहिए।

(५) “अवक्तव्य” यह भंग तीसरा है। कुछ जैन दार्शनिकों ने इस भंग को चौथा स्थान दिया है। आगम में अवक्तव्य का चौथा स्थान नहीं है। यह विचारणीय है कि अवक्तव्य को चौथा स्थान कब से, किसने और क्यों दिया।

(६) स्याद्वाद के भंगों में सभी विरोधी

धर्मयुगलों को लेकर सात ही भंग होने चाहिए—न कम! न अधिक! इस प्रकार जो जैन दार्शनिकों ने व्यवस्था की है, वह निर्मूल नहीं है। क्योंकि त्रिप्रदेशिक स्कंध और उससे अधिक प्रदेशिक स्कंधों के भंगों की संख्या जो प्रस्तुत सूत्र में दी गई है उससे यही मात्स्य होता है कि मूल भंग सात वे ही हैं जो जैन दार्शनिकों ने अपने सप्तभंगी के विवेचन में स्वीकृत किये हैं। जो अधिक भंग संख्या सूत्र में निर्दिष्ट है वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं है किन्तु एकवचन—बहुवचन भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेदकृत संख्यावृद्धि को निकाल दिया जाय तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं। अतएव जो यह कहा जाता है कि आगम में सप्तभंगी नहीं है, वह भ्रममूलक है।

(७) सकलादेश—विकलादेश की कल्पना भी आगमिक—सप्तभंगी में विद्यमान है। आगम के अनुसार प्रथम तीन भंग सकलादेशी है और शेष चार भंग विकलादेशी है।

भंग—कथन—पद्धति

शब्दशास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप से विधि और निषेध ये दो वाच्य होते हैं। प्रत्येक विधि के साथ निषेध और प्रत्येक निषेध के साथ विधि जुड़ी रहती है। एकांत रूप से न कोई विधि संभव है और न कोई निषेध ही। इकरार के साथ इनकार और इनकार के साथ इकरार रहा हुआ है। विधि और निषेध को लेकर जो सप्तभंगी बनती है वह इस प्रकार है—

- (१) स्याद् अस्ति
- (२) स्याद् नास्ति
- (३) स्याद् अस्ति—नास्ति
- (४) स्याद् अवक्तव्य
- (५) स्याद् अस्ति—अवक्तव्य
- (६) स्याद् नास्ति—अवक्तव्य
- (७) स्याद् अस्ति—नास्ति—अवक्तव्य

इस सप्तभंगी में अस्ति, नास्ति और अव-

क्तव्य ये मूल तीन भंग हैं। इसमें तीन द्विसंयोगी और एक त्रिसंयोगी इस तरह चार भंग मिलाने से सात भंग होते हैं। अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, और नास्ति-अवक्तव्य ये तीन द्विसंयोगी भंग हैं। मूल तीन भंग होने पर भी फलितार्थ रूप से सात भंगों का उल्लेख भी आगम साहित्य में प्राप्त होता है। जैसा कि पूर्व में भगवती सूत्र के उल्लेख से भंग बताये हैं, उनमें सात भंगों का प्रयोग हुआ है^{१०}। पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी सात भंगों का नाम बताकर सप्त भंग का प्रयोग किया है^{११}। भगवती सूत्र में^{१२} तथा विशेषावश्यक भाष्य^{१३} में अवक्तव्य को तीसरा भंग माना है। पंचास्तिकाय^{१४} में कुन्द-कुन्दने चौथा भंग माना है। और प्रवचनसार^{१५} में कुन्दकुन्द ने ही तीसरा भंग माना है। बाद के आचार्यों की रचनाओं में दौनों क्रमों का उल्लेख मिलता है।

प्रथम भंग

सप्तभंगी को घट में घटाएँगे। घट में अनंत धर्म है। उनमें एक धर्म सत्ता भी है। “स्याद् अस्ति घटः” घट कथंचित् सत् है। घट में अस्तित्व धर्म किस अपेक्षा से है, क्यों है और कैसे है? इसका उत्तर प्रथम भंग देता है।

कथंचित् स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। हम जब यह कहते हैं कि घडा है

तब हमारा उद्देश्य यही होता है कि घडा स्व-

द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की दृष्टि से है। घट के अस्तित्व की जो यहाँ पर विधि है वही भंग है। स्व की अपेक्षा से अस्तित्व की विधि है। यदि किसी पदार्थ में स्वरूप से अस्तित्व का होना स्वीकार न किया जाय तो उसकी सत्ता ही नहीं रह जायगी। वह सर्वथा असत् हो जायगा और इस प्रकार समग्र विश्व शून्यमय बन जाएगा। अतएव प्रत्येक पदार्थ में स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्ता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। किन्तु पर की अपेक्षा से वह नहीं है। कहा है—“सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च” संसार की प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व स्वरूप से होता ही है, पर रूप से नहीं। यदि स्वयं से भिन्न अन्य समग्र पर-स्वरूपों में भी घट का अस्तित्व हो तो फिर घट, घट नहीं। घट का कार्य आच्छादन आदि करना है। स्मरण रखना चाहिए कि यदि

१० भगवती सूत्र शतक १२, उ० १०, प्र० १९-२०

११ पंचास्तिकाय गा०, १४

१२ भगवती सूत्र शतक १२, उ० १०, प्र० १९-२०

१३ विशेषावश्यक भाष्य गा० २-३२

१४ पंचास्तिकाय गा० १४

१५ प्रवचनसारः त्रयाधिकार गा० ११५

वस्तुओं में अपने स्वरूप के समान, पर स्वरूप की सत्ता भी मानी जाए^{१६} तो उनमें स्व-पर विभाग किसी प्रकार घटित नहीं हो सकेगा। उसके अभाव में तो गुड और गोबर एक हो जायेगा, एतदर्थ प्रथम भंग का अर्थ है घट की सत्ता सभी अपेक्षाओं से नहीं किन्तु एक अपेक्षा से है।

द्वितीय भंग

“ स्याद् नास्ति घटः ” यह द्वितीय भंग है। प्रथम भंग में स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व का प्रतिपादन था, तो द्वितीय भंग में पर-चतुष्टय की अपेक्षा से निषेध किया गया है। प्रत्येक पदार्थ का विधि रूप भी और निषेध रूप भी है। अस्तित्व साथ नास्तित्व भी रहा हुआ है। विधानन्दी ने कहा है—सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पट की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाये तो घट निःस्वरूप हो जाए^{१७}। यदि निःस्वरूपता स्वीकार करें तो स्पष्ट रूप से सर्व-शून्यता का दोष आ जाएगा, इसलिए द्वितीय भंग यह बताता है कि पररूपेण ही घट कथंचित् नहीं है।

तृतीय भंग

“ स्याद् अस्तिनास्ति घटः ” यह तृतीय भंग है। इसमें पहले विधि की और फिर निषेध की क्रमशः विवक्षा की जाती है। इसमें स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से सत्ता का और पर-चतुष्टय की अपेक्षा से असत्ता का क्रमशः कथन

किया गया है। प्रथम और द्वितीय भंग में विधि और निषेध का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया किन्तु तीसरे भंग में क्रमशः दोनों का।

चतुर्थ भंग

“ स्याद् अवक्तव्यो घटः ” यह चतुर्थ भंग है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते हैं, उस समय उसका निषेध रह जाता है और जिस समय निषेध का प्रतिपादन करते हैं तब विधि रह जाती है। विधि और निषेध का क्रमशः प्रतिपादन अस्ति,—नास्ति के रूप में प्रथम और दूसरे भंग में किया गया है, तीसरे भंग में अस्ति, नास्ति का क्रमशः उल्लेख किया गया है, किन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता में कठिनाई है। उसका समाधान अवक्तव्य शब्द के द्वारा किया गया है।

‘ स्याद् अवक्तव्य ’ भंग बताता है कि घट की वक्तव्यता युगपद् में नहीं क्रम में ही होती है। ‘ स्याद् अवक्तव्य ’ भंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व—नास्तित्व का युगपद् वाचक कोई भी शब्द नहीं है। इसलिए विधि-निषेध का युगपत्त्व अवक्तव्य है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतो भावेन नहीं है। यदि इस प्रकार माना जाएगा तो एकान्त अवक्तव्य का दोष पैदा होगा, जो मिथ्या होने से मान्य नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें घट की घट शब्द से या किसी भी अन्य शब्द से यहाँ तक कि अवक्तव्य

शब्द से भी नहीं कह सकेंगे। वस्तु का शब्द द्वारा प्रतिपादन करना असंभव हो जाएगा और वाच्य—वाचक भाव की कल्पना की कोई स्थान ही न रह जाएगा। इसलिए स्यात् अवक्तव्य भंग सूचित करता है कि विधि—निषेध का युगपत्त्व अस्ति या नास्ति शब्द से अवक्तव्य है किन्तु यह अवक्तव्यत्व सर्वथा नहीं है। अवक्तव्य शब्द से तो वह युगपत्त्व वक्तव्य ही है।

पाचवाँ भंग

“स्याद् अस्ति अवक्तव्यो घटः” यह पांचवाँ भंग है। यहाँ पर पहले समय में विधि और दूसरे समय में युगपत् विधि—निषेध की विवक्षा की गई है। इसमें पहले अस्ति के द्वारा स्वरूप से घट की सत्ता का कथन किया जाता है और दूसरे अवक्तव्य अंश के द्वारा युगपत् विधि—निषेध का प्रतिपादन किया जाता है। पाँचवें भंग का अर्थ है घट है, और अवक्तव्य भी है।

छठा भंग

“स्याद् नास्ति अवक्तव्यो घटः” यहाँ पर पहले समय में निषेध और दूसरे समय में एक साथ (युगपद्) विधि—निषेध की विवक्षा होने से घट नहीं है और वह अवक्तव्य है, यह कथन किया गया है।

सातवाँ भंग

“स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्यो घटः” यहाँ पर क्रम से पहले समय में विधि, दूसरे समय में निषेध और तीसरे समय में एक साथ में युगपद् विधि—निषेध की दृष्टि से घट है, घट

नहीं है, घट अवक्तव्य है। इस प्रकार कहा गया है।

चतुष्टय की परिभाषा

विधि और निषेध से प्रत्येक वस्तु का नियत रूप में परिज्ञान होता है। स्व—चतुष्टय से जो वस्तु सत् है वही वस्तु परचतुष्टय से असत् है।^{१८} द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यह चतुष्टय है। स्व—द्रव्य रूप में घट पुद्गल है, चेतन आदि पर—द्रव्य नहीं। स्व—क्षेत्र रूप में कपालादि—स्वावयवों में हैं, तन्तु आदि पर—अवयवों में नहीं। स्वकाल रूप में वह अपने वर्तमान पर्यायों में है, किन्तु पर—पदार्थों के पर्यायों में नहीं है। स्वभाव रूप में स्वयं के लाल आदि गुणों में है, पदार्थों के गुणों में नहीं।

स्याद्वाद—मंजरी^{१९} में व्यवहार—दृष्टि को लक्ष्य में रखकर द्रव्य की अपेक्षा पार्थिवत्व, क्षेत्र की अपेक्षा पाटलिपुत्रकत्व, काल की अपेक्षा शैशिरव और भाव की अपेक्षा श्यामत्व रूप लिखा है।

प्रत्येक वस्तु स्व—द्रव्य, स्व—क्षेत्र, स्व—काल और स्व—भाव से सत् है; पर—द्रव्य, पर—क्षेत्र, पर—काल और पर—भाव से असत् है। इस प्रकार एक ही वस्तु सत् और असत् होने से बाधा और विरोध नहीं है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्व—चतुष्टय की अपेक्षा से है, पर—चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं है।

प्रत्येक भंग निश्चयात्मक है, अनिश्चयात्मक नहीं। इसके लिए कई बार एव (ही) शब्द का प्रयोग भी होता है, जैसे “ स्याद् घटः अस्त्येव ” यहाँ पर ‘ एव ’ शब्द स्व-चतुष्टय की अपेक्षा निश्चित रूप से घट का अस्तित्व प्रकट करता है। “ एव ” का प्रयोग न होने पर भी प्रत्येक कथन को निश्चयात्मक ही समझना चाहिए। स्याद्वाद सन्देह और अनिश्चय का समर्थक नहीं है। चाहे “ एव ” शब्द का प्रयोग हो या न हो किन्तु यदि कोई वचन-प्रयोग स्याद्वाद सम्बन्धी है तो वह निश्चित ही है, वह “ एव ” पूर्वक ही है।

स्यात् शब्द का प्रयोग

सप्तभंगी के प्रत्येक-भंग में स्वधर्म मुख्य होता है और अन्य-धर्म गौण होते हैं। गौण और मुख्य की विवक्षा के लिए ही “ स्यात् ” शब्द का प्रयोग किया जाता है। “ स्यात् ” शब्द जहाँ विवक्षित धर्म की मुख्य रूप से प्रतीति कराता है, वहाँ अ-विवक्षित धर्म का पूर्ण रूप से निषेध न कर उसका गौण-रूप से उपस्थापन करता है। शब्दशक्ति और वस्तुस्वरूप की विवेचना में वक्ता और श्रोता कुशल हैं तो “ स्यात् ” शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती।^{२०} अनेकान्त का प्रकाशन उसके बिना भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—अहम् अस्मि—मैं हूँ, इस वाक्य में ‘अहम्’ और ‘अस्मि’ ये दो पद हैं। इन दोनों में से एक का प्रयोग होने से दूसरे का अर्थ अपने आप माद्वम हो जाता! तथापि स्पष्ट की दृष्टि

से यह प्रयोग किया जाता है। इसी तरह “ पार्थो धनुर्धरः ” में “ एव ” का प्रयोग नहीं हुआ है नहीं हुआ है किन्तु “ अर्जुन ही धनुर्धर है ” यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है।^{२१} यही बात यहाँ पर भी है। ‘ अस्ति घटः ’ कहने पर भी किसी अपेक्षा से घट है ऐसा अर्थ स्वतः निकल आता है किन्तु भ्रान्ति-निवारणार्थ “ स्यात् ” शब्द का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र “ स्यात् ” को अनेकान्त-बोधक मानते हैं।^{२२} भट्ट अकलंक स्यात् को सम्यग् अनेकान्त और सम्यग् एकान्त उभय का वाचक मानते हैं, इसलिए उन्हें नय और प्रमाण दोनों में स्यात् इष्ट है।^{२३}

अन्य दर्शनों में

हमने पूर्व यह बताया कि अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन मूल भंग हैं। अद्वैत वेदान्त, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से मूल तीन भंगों की योजना इस प्रकार की जा सकती है।

अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को ही एकमात्र तत्त्व मानता है। पर वह अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, सत्त्वरूप होने पर भी वह वाणी के द्वारा कहा नहीं जा सकता। इसलिए वेदान्त में ब्रह्म “ अस्ति ” होकर भी अवक्तव्य है। बौद्ध दर्शन में अन्यापोह नास्ति होकर भी अवक्तव्य है। कारण कि वाणी से अन्य का सर्वथा अपोह करने पर किसी भी विधिरूप वस्तु का परिज्ञान

२० लघीयत्रय प्रवचस प्रवेश

२१ तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १।६।५६

२२ स्याद्वाद मंजरी का० ५

२३ लघीयत्रय ६२

नहीं हो सकता। इसलिए बौद्ध दर्शन का अन्यायोह “नास्ति” होकर भी अवक्तव्य है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्र हैं। अस्ति और नास्ति होकर भी अवक्तव्य है। वे दोनों किसी एक शब्द के वाच्य नहीं हो सकते और न सर्वथा भिन्न सामान्य विशेष में कोई अर्थ क्रिया ही हो सकती है। इस प्रकार जैनदर्शन समस्त मूल-भंगों की योजना अन्य-दर्शनों भी देखी जा सकती है।

प्रमाण सप्तभंगी

प्रमाण—वाक्य को सकलादेश और नय-वाक्य को विकलादेश कहते हैं। ये सातों ही भंग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण वाक्य और जब विकलादेशी होते हैं तब नयवाक्य कहलाते हैं। इसी आधार से सप्तभंगी के भी दो भेद हैं—प्रमाण—सप्तभंगी और नय—सप्तभंगी।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। किसी भी एक वस्तु का पूर्ण रूप से परिज्ञान करने के लिए उन अनन्त-शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु यह न तो संभव है और न व्यवहार्य ही है। अनन्त-शब्दों का प्रयोग करने के लिए अनन्तकाल चाहिए, किन्तु मनुष्य का जीवन अनन्त नहीं है। अतएव समग्र-जीवन में भी वह एक भी वस्तु का पूर्ण प्रतिपादन नहीं कर सकता, इसलिए हमें एक-शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ का बोध करना होता है। यद्यपि बाह्य-दृष्टि से ऐसा ज्ञात होता है कि वह एक ही धर्म का कथन करता है, किन्तु अभेदोपचार वृत्ति से वह अन्य-धर्मों का भी प्रतिपादन

करता है। अभेद—प्राधान्य—वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा साक्षात् एक-धर्म का प्रतिपादन होने पर भी अखण्ड—रूप से अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण धर्मों का युगपत् कथन हो जाता है। इसको प्रमाणसप्तभंगी कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यह अभेद—वृत्ति या अभेदोपचार क्या वस्तु है? वस्तु में जब कि अनन्त धर्म हैं और वे परस्पर भिन्न हैं! उन सब की स्वरूपसत्ता अलग-अलग हैं, तब उसमें अभेद किस प्रकार माना जा सकता है? उसका मुख्य आधार क्या है?

समाधान यह है कि वस्तुत्व के प्रतिपादन की अभेद और भेद ये दो शैलियाँ हैं। अभेद—शैली भिन्नता में भी अभिन्नता ढूँढती है, और भेदशैली अभिन्नता में भी भिन्नता की अन्वेषणा करती है। अभेद—प्राधान्यवृत्ति या अभेदोपचार विवक्षित वस्तु के अनन्त-धर्मों को काल, आत्मरूप, अर्थ, संबंध, उपकार, गुणि-देशसंसर्ग और शब्द की दृष्टि से एक साथ अखण्ड एक वस्तु के रूप में उपस्थित करता है। इस प्रकार एक और अखण्ड वस्तु के रूप में अनन्त-धर्मों को एक साथ कथन करनेवाले सकलादेश से वस्तु के सभी धर्मों का एक साथ समूहात्मक ज्ञान हो जाता है।

जीव आदि पदार्थ कथंचित् अस्तिरूप है, इसलिए अस्तित्व-कथन में अभेदावच्छेदक काल आदि बातों को इस प्रकार घटाया जाता है—

(१) काल—जिस समय किसी वस्तु में अस्तित्व धर्म होता है, उसी समय अन्य-धर्म भी

होते हैं। घट में जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व, कठिनत्व, आदि धर्म भी रहते हैं। इसलिए काल की अपेक्षा से अन्य धर्म अस्तित्व से अभिन्न है।

(२) आत्म—रूप—जैसे अस्तित्व घट का स्वभाव है, वैसे ही कृष्णत्व, कठिनत्व आदि भी घट के स्वभाव हैं। अस्तित्व के समान अन्य गुण भी घटात्मक ही है। इसलिए आत्मरूप की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेद है।

(३) अर्थ—जिस घट में अस्तित्व है, उसी घट में कृष्णत्व, कठिनत्व आदि धर्म भी हैं। सभी धर्मों का स्थान एक ही है। इसलिए अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणों में कोई भेद नहीं है।

(४) सम्बन्ध—जैसे अस्तित्व का घट से कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसे ही अन्य धर्म भी घट से संबंधित है। सम्बन्ध की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुण अभिन्न है।

(५) उपकार—अस्तित्व गुण घट का जो उपकार करता है, वही उपकार कृष्णत्व, कठिनत्व आदि गुण भी करते हैं। एतदर्थ यदि उपकार की दृष्टि से देखा जाय तो अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेद है।

(६) गुणिदेश—जिस देश में अस्तित्व रहता है, उसी देश में घट के अन्य गुण भी रहते हैं।

घटरूप गुणी के देश की अपेक्षा से देखा जाय तो अस्तित्व और अन्य गुणों में कोई भेद नहीं है, इसी को गुणिदेश कहते हैं।^{२४}

(७) संसर्ग—जैसे अस्तित्व गुण का घट से संसर्ग है, वैसे ही अन्य गुणों का भी घट से संसर्ग है। इसलिए संसर्ग की दृष्टि से देखने पर अस्तित्व और अन्य गुणों में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए संसर्ग की अपेक्षा से सभी धर्मों में अभेद है।^{२५}

(८) शब्द—जैसे अस्तित्व का प्रतिपादन “है” शब्द द्वारा होता है, वैसे अन्य—गुणों का प्रतिपादन भी “है” शब्द से होता है। घट में अस्तित्व है, घट में कृष्णत्व है, घट में कठिनत्व है। इन सब वाक्यों में, “है” शब्द घट के विभिन्न धर्मों को प्रकट करता है। जिस “है” शब्द से कृष्णत्व का प्रतिपादन होता है उस “है” शब्द से कठिनत्व आदि धर्मों का भी प्रतिपादन होता है। इसलिए शब्द की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य धर्मों में अभेद है।

काल आदि के द्वारा यह अभेद—व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थ को गौण और गुणपिण्डरूप द्रव्य पदार्थ को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। अभेद प्रमाण का मूल प्राण है। बिना अभेद के प्रमाण का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता।

२४ अर्थ पद से अखंड वस्तु पूर्ण रूप से ग्रहण की जाती है, और गुणिदेश से अखण्ड वस्तु के बुद्धि-परिकल्पित देशांश ग्रहण किये जाते हैं।

२५ पूर्वोक्त सम्बन्ध और इस संसर्ग में यह अन्तर है—तादात्म्य सम्बन्ध धर्मों की परस्पर योजना करनेवाला है और संसर्ग एक वस्तु में अशेष धर्मों को बतानेवाला है।

नय—सप्तभंगी

नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करता है किन्तु शेष धर्मों का निषेध न कर उनके प्रति तटस्थ रहता है। इसी को “सुनय” कहते हैं। नय—सप्तभंगी सुनय में होती है, दुर्नय में नहीं। वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी धर्म का काल आदि भेदावच्छेदकों द्वारा भेद की प्रधानता या भेद के उपचार से प्रतिपादन करनेवाला वाक्य विकलादेश कहलाता है। इसे नय—सप्तभंगी कहते हैं। भेद-दृष्टि से नय—सप्तभंगी में वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है।

काल आदि की दृष्टि से

नय—सप्तभंगी में गुण—पिण्डरूप द्रव्य—पदार्थ को गौण और पर्याय—स्वरूप अर्थ को प्रधान माना जाता है, इसलिए नय—सप्तभंगी भेद—प्रधान है। जैसे प्रमाण सप्तभंगी में काल आदि के आधार पर एक गुण को अन्य गुणों से अभिन्न विवक्षित किया जाता है, वैसे ही नय—सप्तभंगी में उन्हीं काल आदि आधारों से एक गुण का दूसरे गुण से भेद विवक्षित किया जाता है। वह इस प्रकार है—

(१) काल—वस्तुगत गुण प्रतिपल—प्रतिक्षण विभिन्न—रूपों में परिणत होता रहता है। इसलिए जो अस्तित्व का काल है वह नास्तित्व आदि का काल नहीं है। विभिन्न—धर्मों का विभिन्न काल होता है, एक नहीं। यदि सभी गुणों का एक ही काल माना जायेगा तो सभी पदार्थों का भी एक ही काल कहा जा सकेगा।

इसलिए काल की दृष्टि से वस्तुगत धर्मों में भेद है, अभेद नहीं।

(२) आत्मरूप—वस्तुगत गुणों का आत्मरूप भी पृथक् पृथक् है। यदि अनेक गुणों का आत्मरूप अलग न माना जाय, तो गुणों में भेद की बुद्धि किस प्रकार होगी? जब गुण अनेक हैं तो उनका आत्मरूप भी भिन्न—भिन्न ही होना चाहिये, क्योंकि एक आत्मरूपवाले अनेक नहीं, एक ही होंगे। अतः आत्मरूप से भी गुणों में भेद ही सिद्ध होता है।

(३) अर्थ—विविध धर्मों का अपना अपना आश्रय अर्थ भी विविध ही होता है। यदि विविध गुणों का आधारभूत पदार्थ अनेक न हो तो एक को ही अनेक गुणों का आश्रय मानना होगा, जो युक्तियुक्त नहीं है। एक का आधार एक ही होता है। इसलिए अर्थभेद से भी सब धर्मों में भेद है।

(४) सम्बन्ध—सम्बन्धियों के भेद से संबंध में भी भेद होना स्वाभाविक है। यह संभव नहीं कि संबंधी तो अनेक हों और उन सबका सम्बन्ध एक हो। गुरुदत्त का अपने पुत्र से जो सम्बन्ध है, वही भाई, माता, पिता के साथ नहीं है। इसलिए भिन्न धर्मों में सम्बन्ध की अपेक्षा से भेद ही सिद्ध होता है, अभेद नहीं।

(५) उपकार—उपकारक के भेद से उपकार में भेद होता है। अतः अनेक धर्मों के द्वारा होनेवाला वस्तु का उपकार भी वस्तु में पृथक्—पृथक् होने से अनेक रूप है, एक रूप नहीं। इसलिए उपकार की अपेक्षा से भी अनेक गुणों में अभेद धटित नहीं होता।

(६) गुणिदेश—गुणी का क्षेत्र प्रत्येक भाग प्रति गुण के लिए भिन्न होना चाहिए, नहीं तो दूसरे गुणी के गुणों का भी इस गुणिदेश से भेद नहीं हो सकेगा। अभिन्न नहीं मानने से एक व्यक्ति के सुख—दुःख और ज्ञानादि दूसरे व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाएँगे, जो किसी भी प्रकार उचित नहीं है। इसलिए गुणिदेश से भी धर्मों का अभेद नहीं किन्तु भेद सिद्ध होता है।

(७) संसर्ग—संसर्ग भी प्रत्येक संसर्गवाले के भेद से भिन्न हो मानना चाहिए। यदि संसर्गियों के भेद के होते हुए भी उनके संसर्ग में अभेद माना जाए तो संसर्गियों का भेद किस प्रकार घटित होगा? लोकदृष्टि से भी पान, सुपारी, इलायची और जिह्वा के साथ भिन्न प्रकार का संसर्ग होता है, एक नहीं। इसलिए संसर्ग से अभेद नहीं अपितु भेद ही सिद्ध होता है।

(८) शब्द—प्रत्येक धर्म का वाचक शब्द भी पृथक्-पृथक् ही होगा। यदि एक ही शब्द समस्त धर्मों का वाचक हो सकता हो तो सब पदार्थ भी एक शब्द के वाच्य बन जाएँगे। ऐसी स्थिति में दूसरे शब्दों की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी, इसीलिए वाचक शब्द की अपेक्षा से भी वस्तुगत अनेक धर्मों में अभेदवृत्ति नहीं, भेदवृत्ति ही प्रमाणित होती है।

प्रत्येक पदार्थ गुण और पर्याय स्वरूप है। गुण और पर्याय दोनों में परस्पर भेदाभेद संबंध है। जिस समय प्रमाण—सप्तभंगी से

पदार्थ का अधिगम किया जाता है, उस समय गुण—पर्यायों में कालादि से अभेद वृत्ति या अभेद का उपचार होता है और अस्ति अथवा नास्ति प्रभृति किसी एक शब्द से ही अनन्त गुण पर्यायों के पिण्ड स्वरूप अखण्ड पदार्थ का युगपत् प्रतिबोध होता है और जिस समय नय-सप्तभंगी के द्वारा पदार्थ का अधिगम किया जाता है, उस समय गुण और पर्यायों में कालादि के द्वारा भेदवृत्ति या भेदोपचार होता है।^{१६} और अस्ति, नास्ति प्रभृति किसी शब्द के द्वारा द्रव्यगत अस्तित्व या नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण—पर्याय के मुख्य रूप से क्रमशः निरूपण होता है। विकलादेश नय है और सकलादेश प्रमाण है। नय वस्तु के एक धर्म का निरूपण करता है। और प्रमाण सम्पूर्ण धर्मों का युगपत् निरूपण करता है। नय और प्रमाण में मुख्य रूप से यही अन्तर है। प्रमाण-सप्तभंगी में अभेदवृत्ति या अभेदोपचार को कथन होता है तो नयसप्तभंगी में भेदवृत्ति या भेदोपचार का निरूपण होता है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण सप्तभंगी में द्रव्यार्थिक भाव है, इसलिए अनेक धर्मों में अभेदवृत्ति स्वतः है और जहाँ पर पर्यायार्थिक भाव का आरोप किया जाता है वहाँ अनेक धर्मों में एक अखण्ड अभेद प्रस्थापित (आरोपित) किया जाता है। जहाँ पर नयसप्तभंगी में द्रव्यार्थिकता है वहाँ पर अभेद में भेद का उपचार करके एक धर्म का मुख्य रूप से निरूपण किया जाता है और जहाँ पर

पर्यायार्थिकता है वहाँ पर अभेदवृत्ति अपने आप होने से उपचार की आवश्यकता नहीं होती।

व्याप्य-व्यापक भाव

स्याद्वाद और सप्तभंगी में व्याप्य और व्यापक भाव संबंध है। स्याद्वाद “व्याप्य” है और सप्तभंगी “व्यापक” है। जो स्याद्वाद है वह निश्चितरूप से सप्तभंगी होता ही है किंतु जो सप्तभंगी है वह स्याद्वाद है भी, नहीं भी है। नय स्याद्वाद नहीं है तथापि उसमें सप्तभंगीय एक व्यापक धर्म है, जो स्याद्वाद और नय दोनों में रहता है।

अनन्त भंगी नहीं

प्रतिपादन किया जा चुका है कि जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म है, इसलिए सप्तभंगी के स्थान पर अनन्तभंगी क्यों न मानी जाय ? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं और प्रत्येक धर्म को लेकर एक-एक सप्तभंगी बनती है, अतएव अनन्त-धर्मों की अनन्त सप्तभंगियों को जैन-दर्शन स्वीकार करता है। यदि एक धर्म का एक भंग होता तो अनन्त धर्मों की अनन्तभंगी हो सकती थी किन्तु ऐसा तो नहीं। एक धर्माश्रित एक सप्तभंगी स्वीकार करने के कारण अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभंगियाँ ही संभव हो सकती है।^{२७}

आचार्य सिद्धसेन व अभयदेव सूरि का मन्तव्य है कि उक्त सप्तभंगी में “सत्, असत्

और अवक्तव्य” ये तीन भंग सकलादेशी है और शेष चार भंग विकलादेशी है।^{२८} आचार्य शांति सूरिने न्यायावतार-सूत्रवार्तिक वृत्ति में,^{२९} अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य को सकलादेशी और अन्य चार को विकलादेशी कहा है। जैन तर्क भाषा में उपाध्याय यशोविजयजी ने सातों ही भंगों को सकलादेशी और विकलादेशी दोनों माना है। दिगंबरार्थ अकलंक, विद्यानन्दी आदि सातों ही भंग को सकलादेश और विकलादेश रूप ही मानते हैं।^{३०}

जो आचार्य सत्, असत् और अवक्तव्य भंगों को सकलादेशी और शेष चार भंगों को विकलादेशी मानते हैं, उनका मन्तव्य है कि प्रथम भंग में द्रव्यार्थिक दृष्टि से “सत्” रूप से अभेद होता है और उसमें सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान हो जाता है। द्वितीय भंग में पर्यायार्थिक दृष्टि से समस्त पर्यायों में अभेदोपचार से अभेद मानकर असत् रूप से भी सम्पूर्ण द्रव्य का ग्रहण कर सकते हैं और तृतीय अवक्तव्य भंग में तो सामान्य रूप में भेद अविवक्षित ही है। इसलिए सम्पूर्ण द्रव्य के ग्रहण में किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं है।

अभेदरूप से सम्पूर्ण द्रव्य-प्राप्ति होने से तीनों भंग सकलादेशी है और अन्य चार भंग सावयव तथा अंशप्राप्ति होने से विकलादेशी है।

कितने ही विचारक उपर्युक्त विचारधारा को महत्त्व नहीं देते हैं। उनका कथन है कि

२७ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६।५२

२९ पं० दलमुख मालवगिरी सम्पादित पृ० ९४

२८ सन्मति तर्क, सटीक पृ० ४४६

३० पूज्य गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रंथ पृ० १३३

यह तो एक विवक्षा-भेद है। सत्त्व अथवा असत्त्व के द्वारा समग्र वस्तु का ग्रहण किया जा सकता है तब सत्त्वासत्त्वादि रूप से मिले हुए दो या तीन धर्मों के द्वारा भी अखण्ड वस्तु का परिज्ञान क्यों नहीं हो सकता ? इसलिए सातों ही भंग सकलादेशी और विकलादेशी दोनों ही हो सकते हैं।

सप्तभंगी का इतिहास

सुदूर अतीतकाल से ही भारतीय-दर्शनों में विश्व के सम्बन्ध में सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार पक्ष चिंतन के मुख्य विषय रहे हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में विश्व के सम्बन्ध में सत्^{३१} और असत् रूप से दो विरोधी कल्पनाओं का उल्लेख है। उक्त सूक्त के ऋषि के सामने दो मत थे। कितने ही जगत् के आदि कारण को सत् कहते थे, दूसरे असत्। जब ऋषि के सामने यह प्रश्न आया तब उन्होंने अपना तृतीय मत प्रदर्शित करते हुए कहा—सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है किन्तु अनुभय है। इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय ये तीन पक्ष ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।^{३२}

यही तथ्य उपनिषद् साहित्य में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर भी दो विरोधी पक्षों का समर्थन मिलता है। 'तदेजति तन्नैजति'^{३३}

“अणोरणीयान् महतो महीयान्” “सदसद्वरेण्यम्” आदि वाक्यों में स्पष्ट रूप से दो विरोधी धर्म स्वीकार किये गये हैं। इस परम्परा में तृतीय पक्ष सदसत् अर्थात् उभय का बनता है और जहाँ सत् और असत् दोनों का निषेध किया गया है वहाँ अनुभय का चतुर्थ पक्ष बन गया। इस तरह उपनिषदों में सत्,^{३४} असत्,^{३५} सदसत् और अनुभय ये चार पक्ष प्राप्त होते हैं। अनुभय पक्ष को अवक्तव्य भी कहते हैं।^{३६} अवक्तव्य के तीन अर्थ हैं—(१) सत् और असत् दोनों का निषेध करना (२) सत्, असत् और सदसत् तीनों का निषेध करना (३) सत् और असत् दोनों को अक्रम अर्थात् युगपद् स्वीकार करना। अवक्तव्य तो उपनिषद् साहित्य का मुख्य सूत्र रहा है।^{३७} जहाँ पर अवक्तव्य को तृतीय स्थान दिया गया है वहाँ पर सत् और असत् दोनों का निषेध जानना चाहिए। जहाँ अवक्तव्य को चतुर्थ स्थान दिया गया है, वहाँ सत्, असत् और सदसत् तीनों का निषेध जानना चाहिए। अवक्तव्यता सापेक्ष और निरपेक्ष रूप से दो प्रकार की है। सापेक्ष अवक्तव्यता वह है जिसमें तत्त्व सत्, असत् और सदसत् रूप से जो अवाच्य है, उसकी झलक होती है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन ने तो सत्, असत्, सदसत् और अनुभय इन चार दृष्टियों

३१ एक सद् बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद १।१६।४६

३२ सदसत् दोनों के लिए देखिये—ऋग्वेद १०।१२९

३३ ईशोपनिषद्, ५

३५ छान्दोग्योपनिषद् ३।१९।१

३७ (क) केनोपनिषद् १।४

३४ छान्दोग्योपनिषद् ६।२

३६ तैत्तिरीय० २।४

(ख) कटोपनिषद् २।६।१२

(ग) माण्डूक्योपनिषद् ७

से तत्त्व को अवाच्य माना है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वस्तु चतुष्कोटि—विनिर्मुक्त है। इस प्रकार सापेक्ष अवक्तव्यता एक दो, तीन या चार पक्षों के निषेध पर खड़ी होती है। जहाँ पर तत्त्व न सत् हो सकता है, न असत् हो सकता है, न सत् और असत् उभयरूप हो सकता है, न अनुभय हो सकता (ये चारों पक्ष एक साथ हों या पुथक्—पुथक् हों) वहाँ पर सापेक्ष अवक्तव्यता है। पक्ष के रूप में जो अवक्तव्यता है वह सापेक्ष अवक्तव्यता है। निरपेक्ष अवक्तव्यता वह है जहाँ पर तत्त्व को सीधा वचन से अगम्य कहा जाता है।

बुद्ध के विभज्यवाद और अव्याकृतवाद में भी उक्त चार पक्षों का उल्लेख मिलता है। सान्तता और अनन्तता, नित्यता और अनित्यता आदि प्रश्नों को बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। जैसे—

(१) होति तथागतो परं मरणाति ?

(२) न होति तथागतो परं मरणाति ?

(३) होति च न होति च तथागतो परं मरणाति ?

(४) नेय होति न न होति तथागतो परं मरणाति ?^{३८}

उक्त अव्याकृत प्रश्नों के अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटक में ऐसे हैं, जो इन चार पक्षों को ही सिद्ध करते हैं—

(१) सयंकतं दुक्खंति ?

(२) परंकतं दुक्खंति ?

(३) सयंकतं परंकतं च दुक्खंति ?

(४) असयंकारं अपरंकारं दुक्खंति ?^{३९}

महावीनकालीन तत्त्वचिन्तक संजयवेलट्टि-पुत्त के अज्ञानवाद में भी उक्त चार पक्षों की उपलब्धि होती है। संजयवेलट्टिपुत्त इन प्रश्नों का उत्तर न “हाँ” में देता था और न “ना” में देता था। किसी भी विषय में उसका कुछ निश्चय नहीं था। बुद्ध के सामने जब इस प्रकार के प्रश्न आते तब वे अव्याकृत कह देते थे पर संजय उनसे एक कदम आगे था। वह न ‘हाँ’ कहता, न ‘ना’ कहता, न अव्याकृत कहता, न व्याकृत कहता। किसी भी प्रकार का विशेषण प्रयोग करने में उसे भय सा अनुभव होता था। वह किसी भी विषय में अपना निश्चित मत प्रकट नहीं करता था। वह संशयवादी था। जो स्थान पाश्चात्य दर्शन में “ड्यूम” का है वही स्थान भारतीय दर्शन में संजय का है। ड्यूम का भी यह मन्तव्य था कि हमारा ज्ञान निश्चित नहीं है इसलिए हम किसी अंतिम तत्त्व का निर्णय नहीं कर सकते। सीमित अवस्था में कहते हुए सीमा के बाहर तत्त्व का निर्णय करना हमारी शक्ति से परे है। जिन प्रश्नों के विषयमें संजय ने विक्षेपवादी वृत्ति का परिचय दिया वे यह है। जैसे—^{४०}

(१) परलोक है ?

परलोक नहीं है ?

परलोक है और नहीं है ?

न परलोक है और न नहीं है ?

× × ×

(२) औपपातिक है ?

औपपातिक नहीं है ?

औपपातिक है और नहीं है ?

औपपातिक न है, न नहीं है ?

+ + +

(३) सुकृत-दुष्कृत कर्म का फल है ?

सुकृत-दुष्कृत कर्म का फल नहीं है ?

सुकृत-दुष्कृत कर्म का फल है, नहीं है ?

सुकृत-दुष्कृत कर्म का फल न है, न नहीं है ?

× × ×

(४) मरणान्तर तथागत है ?

मरणान्तर तथागत नहीं है ?

मरणान्तर तथागत है और नहीं है ?

मरणान्तर तथागत न है और नहीं है ?

* * *

संजय के संशयवाद में और स्याद्वाद में यही अन्तर है कि स्याद्वाद निश्चयात्मक है किन्तु संजय का संशयवाद अनिश्चयात्मक है। श्रमण भगवान महावीर प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अपेक्षा की दृष्टि से निश्चित रूप से देते थे। उन्होंने कभी भी तथागत बुद्ध की तरह किसी प्रश्न को अव्याकृत कहकर टालने का प्रयास नहीं किया और न संजय की तरह अनिश्चित ही उत्तर दिया। स्मरण रखना चाहिए स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, न अज्ञानवाद है, न अस्थिर-

वाद है, न विक्षेपवाद है—यह तो निश्चयवाद है, ज्ञानवाद है।

भगवान महावीर ने अपनी विशाल व तत्व-स्पर्शिनी दृष्टि से वस्तु के विराट् रूप को निहारकर कहा—वस्तु में चार पक्ष ही नहीं होते किन्तु प्रत्येक वस्तु में अनन्त पक्ष हैं, अनन्त विकल्प है, अनन्त धर्म है। प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। इसलिए भगवान महावीर ने उक्त चतुष्कोटि से विलक्षण, वस्तु में रहे हुए प्रत्येक धर्म के लिए सप्तभंगी का वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया और अनन्त धर्मों के लिए अनन्त सप्तभंगी का प्रतिपादन करके वस्तुबोध का सर्वग्राही रूप जन जनके सामने उपस्थित किया।

भगवान महावीर से पूर्व उपनिषद-काल में वस्तु-तत्व के सदसद्वाद को लेकर विचारणा चल रही थी, किन्तु पूर्ण रूप से निर्णय नहीं हो सका था। संजय ने उन ज्वलन्त प्रश्नों को अज्ञात कहकर टालने का प्रयास किया। बुद्ध ने कितनी ही बातों में विभाज्यवाद का कथन करके अन्य बातों को अव्याकृत कह दिया किन्तु महावीर ने स्पष्ट उद्घोषणा की कि चिन्तन के क्षेत्र में किसी भी वस्तु को केवल अव्याकृत या अज्ञात कह देने से समाधान नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने अपनी तात्विक व तर्कमूलक दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन किया। सप्तभंगीवाद, स्याद्वाद उसी का प्रतिफल है।





ज्योतिष-विज्ञान

ले. पं. गोविंद जीवन्मंदन झा
नर्मदाबाई ब्र० पाठशाला पाटण (उ. गु.)



संस्कृत—वाङ्मय—शास्त्र में ज्योतिषशास्त्र को विज्ञान का खजाना माना गया है—जिस में दो विभाग हैं। गणित और फलित।

इन दोनों में फलित विभाग का साहित्य, “सागर जितना ही विशाल है”।

ज्योतिषशास्त्र में प्राचीन महर्षियों और युगद्रष्टा आचार्यों का संशोधनकार्य सराहनीय है।

जैसे कि आर्यभट्ट, वराह—मिहिर, श्रीधर स्वामी, केशव, मुंजाल, मकरन्द, भास्कराचार्य प्रभृति विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है।

इन्हीं विद्वानों का तपःपूत—साधनायुक्त जीवन से तथा उन्हीं आचार्यों के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा विकसित यह भारतीय विज्ञानशास्त्र मनुष्यों के जीवन से इतना गहरा संबन्ध रखता है कि—जब समुदाय के जीवन की यात्रा में क्रान्तिकारी फलों का समर्थन कर मानवजीवन के विकास में ज्योतिषशास्त्र युगादिसे सहायक बनता आ रहा है।

पांचवीं शताब्दी से वराह—मिहिर और बारहवीं शताब्दी के समय तक भास्कराचार्यने ज्योतिषशास्त्र के लिए सुवर्णयुग बना दिया।

इन सात सदीयों में ज्योतिष के क्षेत्र में अनेक अन्वेषणात्मक और गवेषणात्मक रचनाओं की अवतारणा हुई।

सिद्धान्त संहिता और होरा पर हजारों रहस्यमय ग्रन्थ लिखे गये।

जिन में से अधिकांश नष्ट हो गये, और कितने विदेशियों के हाथ में चले गये, जो आज भी लन्दन के इण्डिया ओफिस, में बर्लिन (जर्मनी) के पुस्तकालय में इसी तरह इण्डिया और यूरोप के विशाल पुस्तकालयों में पड़े हैं।

भारत के विभिन्न भागों में ग्रह—नक्षत्रों के सूक्ष्म निरीक्षण के लिए वेधशालाओं का निर्माण भी हुआ है।

जिन का अस्तित्व जयपुर—उज्जैन—काशी—दिल्ली—अहमदाबाद आदि स्थानों में देखने में आता है।

ज्योतिष विज्ञान हरेक इन्सान के जीवन के साथ इतना ओतप्रोत और संलग्न है कि विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश के लिए ज्योतिष विज्ञान महान् मार्गदर्शक सिद्ध होता आ रहा है।

जिसके अनुसन्धान में गणित, संहिता, ज्योतिष, होरा प्रभृति द्वारा जातक के लिए फलादेश किया जाय तो ज्योतिष विज्ञान हर

मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग बन जायगा नहीं तो मनुष्यों का उपहास का पात्र बन जायगा ।

ज्योतिष खगोल, भूगोल, से लेकर जातक प्रश्न, नष्ट जातक, वृष्टि, व्यापार की तेजीमन्दी, जमीन संशोधन, यात्रा, वस्तु, आरोग्यता, वैवाहिक जीवन में सुखदुःख और आर्थिक प्रगति अवनति आदि अनेक समस्याओं को सुलझाने के लिए बड़ा सहायक और सचोट है ।

ज्योतिष विज्ञान एक अमूल्य दर्पण है । जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान की स्पष्ट छाया दिखाई देती है । दिखलानेवाला या फलादेश करनेवाला अनुभवी और शास्त्रीय जानकार होना ही चाहिए ।

अन्यथा इनके अनुशीलन—परिशीलन के बिना ज्योतिषशास्त्र के रहस्य को न वह साक्षात्कार कर सकता है न उसके ज्ञान का अन्तर्भेद भी प्राप्त कर सकता है ।

ऐसी अपूर्ण स्थिति में शास्त्रज्ञों का फलादेश मिथ्या प्रयुक्त ही सिद्ध होगा ।

ज्योतिषशास्त्र की अन्धकारावस्था अठारवीं—उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में राजनैतिक विप्लवों के कारण और छिन्नभिन्नता के कारण आई ।

वह काल ज्ञान—साधना की दृष्टि से अन्धकाराच्छन्न था ।

कारण यह था कि विजेता विदेशियों ने देश को दासता को जंजीरों से बांध कर विज्ञान

के समस्त साधनों से वंचित कर दिया, साथ ही देश की दासता से प्रताड़ित हुई मानसिक दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाकर अनेक रहस्यमय ग्रन्थों को कूटनीति द्वारा अपहरण कर इस समृद्ध—राष्ट्र को हर तरह से दीन—दरिद्र बना दिया ।

परिणाम स्वरूप हम आत्मविस्मृत होकर परावलम्बी हो गये और अपनी विविध विद्या-कलाकौशल के साथ साथ इस प्रत्यक्ष ज्योतिर्विज्ञान को भी भूल गये ।

फलतः चन्द्रार्क—साक्षीवाला यह प्रत्यक्ष ज्योतिषशास्त्र मतभेद और विवाद का विषय बन गया जिसका प्रत्यक्ष दर्शन विभिन्न पंचांगों के रूप में होने लगा ।

ऐसी परिस्थिति को देखकर अर्वाचीन विद्वानों का हृदय भर आया जिनमें पुलकित झा, लोकमान्य तिलक, अण्णयस्वामी दीक्षित, सुधाकर द्विवेदी, केतकर, बापुदेव, आपटे, मालवीयाजी प्रभृति मनीषियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

इन विद्वानोंने शताब्दियों से दासताग्रस्त दिङ्मूढ भारतीय मानस को ज्योतिषशास्त्र की ओर आकर्षित करने की पूर्णरीति से सफल चेष्टा की । और वे बहुत अंशों तक सफल भी हुए ।

अपने प्रचार में विद्वानोंने ने सद्बोध सिद्ध गणित के साथ “ ज्योतिषशास्त्र के संहिता होरा प्रभृति अंगों का मूलाधार से परिशुद्ध हुए बिना फलनिर्देश उपहास मात्र सिद्ध होगा ।

ऐसे विचारों के द्वारा आचार्यों ने ज्योतिष-शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिए छात्रों को "त्रिस्कन्ध-विद्याकुशलः" अर्थात् सिद्धान्त संहिता और होरा के ज्ञान में कुशल होने का आदेश दिया ।

यह प्रत्यक्ष सत्य है कि सृष्टि के आरंभ से इस अनन्त ज्योतिर्जगत् में भारतीय आचार्य, और ऋषि, मुनियों की सूझ ने ज्योतिष शास्त्र के तत्त्वों की गवेषणा विश्व के हित साधने के लिए की ।

यह शास्त्र भारतीय मानवीय-बुद्धिवैभव का चमत्कृत मूर्तरूप है ।

भारतीय-विद्वानों ने कालपुरुष के शुभाशुभ संकेत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस प्रत्यक्ष ज्योतिषशास्त्र का आधार लिया ।

अनेक युगों तक शोध चलती रही जो स्कन्धत्रय के रूप में हमारे समक्ष हैं ।

विविध मतान्तरों के बाद विश्वके निष्पक्ष विद्वान भी आज एक मत से स्वीकार कर लिए हैं कि—“ज्योतिषशास्त्र की गवेषणा का मूल क्षेत्र भारतीय विद्वानों का है ।”

यह सिद्धान्त वर्तमान युगमें निर्विवाद रूपसे सिद्ध भी हो चुका है ।

ज्योतिषशास्त्र के बृहज्जातक बृहत्संहिता, सिद्धान्त, शिरोमणि, लीलावती, केतकी, मान-सागरी बीजगणित आदि ग्रन्थों में ज्योतिषशास्त्र के प्रायः सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है ।

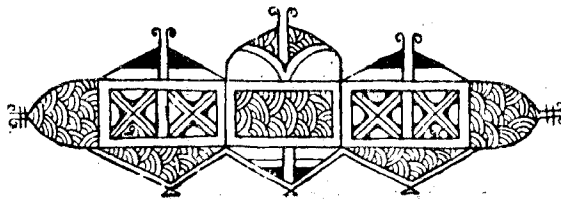
इस प्रकार से ज्योतिषशास्त्र भूत, भविष्य, वर्तमान कालिक जीवन, प्रगति, आपत्ति, आदि सब तरह के फलादेशों से भरा ज्योतिषशास्त्र अभूतपूर्व खजाना है ।

वस्तु समर्प, महर्घ, भूशोधन, जातक के जीवनयात्रा में फलादेश, वास्तु, देवप्रतिष्ठा, शकुन, प्रभृति अनेक ऐसे खगोल, भूगोल, सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रों की गति से संबद्ध यह महा-शास्त्र ज्योतिष-विज्ञान अतुलनीय और सराहनीय है ।

इसी ज्योतिष शास्त्र के गणित-और फलित विभाग द्वारा परोक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष करने में ज्योतिष के विद्वान दैवज्ञ की उपाधि प्राप्त करते हैं और वैसे करने में ज्योतिषी पर्याप्त शक्तिशाली होते हैं ।

ज्योतिषशास्त्र की गंभीरता, रहस्यमय तत्त्व, और इसकी विशालता समस्त प्राणियों के लिए महान् हितकारी है । आचार्य वराहमिहिर जैसे विद्वान पारंगत दैवज्ञ कहते हैं कि—

ज्योतिषमागम-शास्त्रम् विप्रतिपत्तौ न योग्यमस्माकम् स्वयमेव विकल्पयितुम् किन्तु बहूनां मतं वक्ष्ये ॥





वैज्ञानिकों की दृष्टिसे सूर्य का परिवार



(“सायन्स डायजेस्ट” में प्रकाशित लेखका अनुवाद)

सूर्य का परिवार है—ग्रह (तारे नहीं), धूम-केतु व अन्य समूह, जो सूर्याकर्षण से प्रभावित सूर्य की परिक्रमा करते रहते हैं। इस परिवार का विधायक सूर्य स्वयं बड़ा विशाल है, अपने सारे पारिवारिक—जनों के मिले वजन से भी ७५० गुना अधिक।

सूर्य—परिवार के प्रमुख नौ सदस्य हैं। ये नव ग्रह हैं, सूर्य से अपनी दूरी के अनुसार क्रमशः बुध (मर्क्युरी), शुक्र (वीनस) पृथ्वी, मंगल (मार्स) बृहस्पति (जुपिटर), शनि (सैटर्न) युरेनस, वरुण (नेपचून), यम (प्लूटो)। बुध सूर्य के सर्वाधिक समीप है, तो प्लूटो सर्वाधिक दूर। नाप-तोल में बुध सबसे छोटा है, अपनी इस पृथ्वी के एक तिहाई व्यास जितना ही। और सबसे बड़ा बृहस्पति है, जिसका व्यास अपनी पृथ्वी से ११ गुना अधिक है। शनि का व्यास उससे थोड़ा कम अर्थात् पृथ्वी से साठे नौ गुना बड़ा है; पर उस डेढ़ गुने बड़ेपन के कारण ही बृहस्पति इतना विशाल है कि उसमें बाकी आठों ग्रह समा जायें।

बुध और शुक्र प्रायः अंतर्ग्रह कहलाते हैं। कारण कि वे पृथ्वी से भी सूर्य के समीप हैं। अन्य ग्रह बहिर्ग्रह कहलाते हैं, क्योंकि उनकी

सूर्य—परिक्रमा का पथ पृथ्वी के पथ से भी बाहर है। बृहस्पति, शनि, युरेनस और वरुण विशाल ग्रह कहलाते हैं, कारण कि वे पृथ्वी से ६४ गुने बड़े हैं।

बुध सूर्य की परिक्रमा पूरी करता है हमारे ८८ दिन में, और वह सूर्य से औसत ३ करोड़ ६० लाख मील दूर रहता है, अर्थात् पृथ्वी व सूर्य की दूरी का एक तिहाई! सूर्य की इस समीपता के कारण बुध हमारी पृथ्वी से ९ गुना अधिक गरम होगा। इसका वही एक भाग सदैव सूर्य के सम्मुख रहता है। अर्थात् सम्मुखीन भाग भयानक गरम और पृष्ठभाग भयानक ठंडा। तापमान को प्रभावित करने के लिए पृथ्वी की भांति बुध के चारों ओर वायु-मंडल का सर्वथा अभाव है।

शुक्र सूर्य से औसतन ६ करोड़ ७० लाख मील दूर है और हमारी पृथ्वी से सर्वाधिक समीप। यह घने बादलों के भरपूर वातावरण से आवृत है। इसकी सतह को कोई कभी नहीं देख पाया है। फिर भी रेडियोज्योतिष के द्वारा यह अनुमान किया गया है कि वह अपनी धुरी पर अपने एक वर्ष अर्थात् हमारे २२५ दिन में एक बार घूमता है। यह पृथ्वी से थोड़ा—सा

ही छोटा है, इसलिए ये दोनों भाई-बहन कहलाते हैं। वहां की तेज गरमी के कारण प्राणियों के लिए प्राण-वायु (आक्सिजन) व जलमय बाष्प है या नहीं, इसके संबंध में ज्योतिषियों व वैज्ञानिकों में दो मत हैं। जिस घने वातावरण से यह आवृत है, उससे अनुमान किया जाता है, गर्द के भयंकर तूफानों से उसकी सतह प्रताड़ित हो रही होगी।

पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा एक वर्ष में पूरी करती है, औसत ९ करोड़ ३० लाख मील की दूरी से। यों यह अपनी धुरी पर एक बार घूम लेती है एक दिन-रात-२४ घंटों में। तीन सौ पैंसठ दिन से तनिक कम समय में यह सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करती है, और यह समय है इसका एक वर्ष। वर्ष को पूरे दिनों का मानने के लिए हर चौथे वर्ष फरवरी मास में एक दिन बढ़ाया जाता है। फिर भी परिक्रमा काल में चौथाई दिन पूरा नहीं लगता, इसलिए उन शताब्दी वर्षों में, जिनमें ४०० का भाग नहीं लगता (जैसे १७००, १८००, १९०० में) वह एक दिन नहीं बढ़ाया जाता। फिर भी हिसाब सही नहीं बैठता। अतएव ४०० से विभाजित हो सकने पर भी २००० की सन में एक दिन बढ़ाया जायेगा।

पृथ्वी पत्थर की एक गेंद के समान है, जिसके भीतर पिघली धातुएं समाविष्ट हैं। इसका सात बटा दस भाग पानी से आवृत है। इसका वायुमंडल पूरित है नाइट्रोजन, आक्सिजन, जलमय बाष्प, आरगोन, कारबन

डाइआक्साइड व अन्य गैसोंसे। ज्यों-ज्यों पृथ्वी से दूर होते जाइये, यह वायुमंडल पतला होता जायेगा। आकाश में छोड़े गये रोकटों से पता लगा है कि दो हजार मील की दूरी पर भी इस वायुमंडल के यत्किंचित् लक्षण वर्तमान हैं।

पृथ्वी का अपना उपग्रह भी है-चंद्रमा। चंद्रमा के जन्म का पता नहीं। यह मान्यता रही है कि चंद्रमा पृथ्वी-पुत्र है, आदिकाल में उसमें से निकलकर अलग बना हुआ एक उपग्रह। कुछ ज्योतिषी यह मानते हैं कि यह एक अलग छोटा-सा ग्रह है, जो पांच करोड़ वर्ष पहले भटक गया और अपने भ्रमण में पृथ्वी के आकर्षण से पकड़कर उसके चारों ओर घूमने लगा।

मंगल पृथ्वी के पश्चात् है, वह ६८७ दिन में सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करता है, १४ करोड़ २० लाख मील की औसत दूरी से। इस नक्षत्र का व्यास पृथ्वी से आधे से भी थोड़ा कम है। यह अपनी धुरी पर साठे चौबीस घंटे में एक चक्कर लगाता है। पृथ्वी से ११ मील ऊंचाई पर जितना पतला वायुमंडल है, अनुमान किया जाता है, उतने पतले वायुमंडल से मंगल आवृत है। उसके वातावरण में आक्सिजन व जलयुक्त बाष्प होने का अनुमान लगाया गया है। वहां के आकाश में यदा-कदा बादल भी दिखाई देते हैं। अन्यथा वहां का आकाश सर्वांशतः सर्वदा स्वच्छ रहता है, जिससे वहां की सतह दिखाई देती रहती है।

मंगल की सतह रंग में ललाई लिये है,

बीच-बीच में भूरे व हरे रंग के भाग भी दिखाई देते हैं, जो वहां की 'ऋतु' के अनुसार छोटे-बड़े होते हैं। इससे अनुमान किया जाता है, वह वहां की वनस्पति की हरियाली है। मंगल के दोनों ध्रुव रंग में सफेद हैं; पर उस ग्रह पर पानी का जितना अभाव है, उससे वह सफेदी बर्फ नहीं हो सकती। फिर भी यह सफेदी सर्दियों में अधिक गरमियों में कम होती देखी गयी है; इसलिए ज्योतिषियों का मत है कि वह 'पाला' होना चाहिये।

मंगल पर ऐसे भी भाग हैं, जिन्हें आपस में जोड़ती सीधी, कभी टेढ़ी पतली काली रेखाएं दिखाई दी हैं। इन्हें 'नहर' कहा जाता है। पर वे जलवाहिनी नहरे' नहीं हो सकतीं; क्योंकि मंगल पर जल का अभाव है। वे लकीरें' ऐसी प्राकृतिक दरारें' होंगी, जैसी हमारी पृथ्वी पर नहीं देखने में आती। इस ग्रह के दो नन्हे उप-ग्रह—चंद्रमा—भी हैं।

बृहस्पति मंगल से परे दूसरा विशालकाय ग्रह है। ४८ करोड़ ४० लाख मील की औसत दूरी से सूर्य की परिक्रमा में इसे १२ वर्ष लगते हैं। इतना बृहद्काय होकर भी यह ग्रह अपनी धुरी पर दस घंटे में एक चक्कर लगा लेता है। इस चक्कर के कारण मध्यरेखा के समीप यह फूले पेट के समान और ध्रुवों पर चपटा हो गया है। इसके वातावरण में भी बादल दिखते हैं; पर वे भी जल—विहीन हैं। बृहस्पति का तापमान हिमांक से २०० डिग्री कम है, इसलिए वे बादल अमोनिया के कणों से बने होंगे। उन

बादलों के बीच एक लाल रंग का विस्तृत अंडाकार भाग है। वह क्या है, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सका है।

बृहस्पति का वायुमंडल अधिकांशतः गीले गैस व अमोनिया से पूरित होना चाहिए। वह आठ हजार मील ऊंचाई तक आच्छादित है। उसके नीचे शायद सत्रह हजार मील मोटी बर्फ का रेगिस्तान है और उसके नीचे पत्थर का उसका भीतरी भाग। और वह होगा ३७ हजार मील व्यास का, अपनी पृथ्वी के व्यास से पांच गुना अधिक।

बृहस्पति की गुरुत्वाकर्षण—शक्ति इतनी प्रबल है कि पृथ्वी पर का १८ पौंड का वजन उस ग्रह पर ४२० पौंड वजन होगा। बृहस्पति के १२ उपग्रह हैं।

बृहस्पति के पश्चात् दूसरा सबसे बड़ा ग्रह है शनि। उसे सूर्य की परिक्रमा में साठे उनतीस वर्ष लगते हैं और वह सूर्य से औसतन ८८ करोड़ ७० लाख मील दूर रहता है। अपनी धुरी पर यह साठे दस घंटे में एक चक्कर लगा लेता है। इसके ध्रुव बृहस्पति की अपेक्षा भी अधिक चपटे हैं। यह बहुत ही ठंडा ग्रह है। बृहस्पति की भांति इसका वायुमंडल भी विषाक्त गैसपूर्ण बादलों से पूरित है।

सबसे महत्वपूर्ण अचरज की बात है इस ग्रह के चारों ओर के छल्ले। एक के भीतर एक तीन चपटे छल्ले शनि ग्रह की मध्यरेखा के वृत्त के चारों ओर घूमते रहते हैं। अनुमान किया जाता है कि वे छल्ले अनगिनत छोटे

पत्थरों, रजकणों या बर्फ के टुकड़ों से बने हैं, जो नन्हे-नन्हे उपग्रहों की भांति छल्लों के रूप में शनि की परिक्रमा करते रहते हैं। सबसे बड़े छल्ले का व्यास १ लाख ७० हजार मील है; पर ये छल्ले २० मील से ज्यादा मोटे नहीं। इन छल्लों के अतिरिक्त शनि के ९ उपग्रह हैं, जिनमें से एक-टाइटन-बुध से भी बड़ा है।

युरेनस सूर्य की परिक्रमा ८४ वर्ष में पूरी करता है-१ अरब ७८ करोड़ ३० लाख मील की दूरी से। युरेनस के भी ५ उपग्रह हैं।

वरुण १६५ वर्ष में सूर्य की एक परिक्रमा पूरी करता है २ अरब ८० करोड़ मील की दूरी से। इसके भी २ उपग्रह हैं।

प्लूटो बहुत ही छोटा ग्रह है, पृथ्वी के आधे से भी छोटा। यह सूर्य-परिवार के ग्रहों में

सबसे बाहर की ओर है; पर इसकी परिक्रमा का मार्ग इतना अंडाकार है कि अधिकांशतः सूर्य से दूरी इसकी ३ अरब ६७ करोड़ मील होने पर भी यह वरुण से भी सूर्य के नजदीक चला जाता है। इसे सूर्य परिक्रमा करने में २४८½ वर्ष लगते हैं।

सब ग्रह अपनी धुरियों पर चक्कर लगाते हैं और सूर्य की परिक्रमा करते हैं। इन नवग्रहों के अतिरिक्त सूर्य ३ हजार क्षुद्र ग्रहों (एस्टरायड) और कई हजार धूमकेतु व उल्का-समूहों का नियंत्रण भी करता है।

[हिन्दी नवनीत अगस्त १९६५ से साभार उद्धृत]

सत्य की व्याख्या

नित-नये वैज्ञानिक-आविष्कारोंसे वर्तमान युग प्रगतिका युग कहा जाता है, फिर भी वैज्ञानिक चकाचौंधमें अच्छे अच्छे मनीषीलोक भी सत्यके दर्शनकी मूलभूत प्रणालिको भूल कर चका जाते हैं।

फलतः

बुद्धि और मनकी सीमा तक कीजाने वाली दौडके द्वारा होनेवाले सत्यका यत्किञ्चित् या विकृत दर्शनको ही पूर्णसत्य माननेकी धृष्टताका उदय होता है।

“ सत्यं ह्यतीन्द्रियम् ” किन्तु आप्त पुरुषों का यह बात सत्यको इन्द्रिय-मन एवं बुद्धिसे पर बतलाती है, अतः “गंभीर भी रहो” बोलनेकी जरूरत है।



जैन साहित्य में भूगोल

डा. तेजसिंह गौड़ पीएच. डी.

छोटा बझार उन्हेल (जि. उज्जैन म. प्र.)



भारत के जैन विद्वानों और विशेषकर जैनाचार्यों ने जहां जैन धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी बृहत्-ग्रन्थों का सृजन किया, वहीं उन्होंने अन्य विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों की भी रचना की।

जैनाचार्यों ने जो ग्रंथ लिखे हैं, उनमें उनकी अपनी मान्यताएं हैं।

इसी प्रकार इन आचार्यों ने भूगोल से सम्बन्धित साहित्य का भी सृजन किया। जिसमें उनकी अपनी मान्यताएं दिखाई देती हैं।

इस प्रकार के ग्रंथों में उर्व, मध्य एवं अधो-लोको का, द्वीपसागरों का, क्षेत्रों, पर्वतों तथा नदियों आदि का स्वरूप व परिमाण विस्तृत रूप से तथा गणित की प्रक्रियाओं के आधार से वर्णन किया गया है। हम यहाँ जैनमान्यताओं की चर्चा न कर केवल कुछ उन ग्रंथों का उल्लेख करेंगे जिनमें भूगोल विषय की चर्चा की गई है।

जैनधर्म में बारह उपांग माने गये हैं। जिसमें से पांचवाँ उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति (सूर्य पण्णत्ति) है। जिसमें २० पाहुड है, जिनके अन्तर्गत १०८ सूत्रों में सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रों की गतियों का विस्तृत वर्णन है।

इस ग्रंथ में मंडल गति, संख्या, सूर्य का

परिभ्रमण प्रकाश क्षेत्र परिमाण, प्रकाश संस्थान, उदय स्थिति, चन्द्रमा की कला, ज्योत्स्ना परिणाम, शीघ्रगतिनिर्णय, ज्योत्स्ना-लक्षण, चन्द्र-सूर्य आदि की ऊँचाई की चर्चा की गई है।

छट्ठा उपांग जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (जम्बूद्वीप पण्णत्ति) है। इसके दो भाग हैं (१) पूर्वार्द्ध और (२) उत्तरार्द्ध।

प्रथम भाग के चार परिच्छेदों में जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र का तथा उसके पर्वतों, नदियों आदि का उल्लेख है।

सातवाँ उपांग चन्द्र प्रज्ञप्ति है। चन्द्रप्रज्ञप्ति (चन्द्रपण्णत्ति) सूर्य प्रज्ञप्ति से भिन्न है। इसमें ज्योतिष-चक्र का वर्णन है।

दिगम्बर परम्परा में इस विषय का प्रथम ग्रंथ लोकविभाग प्रतीत होता है। जो मूल रूप में तो उपलब्ध नहीं है। किन्तु सिंहसूरि कृत संस्कृत-पद्यात्मक "लोकविभाग" में मिलता है।

यह मूल ग्रंथ अनुमानतः प्राकृत में ही रहा होगा।

आ. कुन्दकुन्द कृत नियमसार की १७वीं गाथा में जो "लोकविभागे सुणादब्धं" रूप से

उल्लेख किया गया है उसमें सम्भव है सर्वानंदि कृत लोक विभाग का उल्लेख हो।

तिलोयपण्णत्ति नामक ग्रंथ में लोक विभाग का अनेक बार उल्लेख किया गया है।

सिंहसूरि ने यह भी लिखा है कि उन्होंने अपना यह रूपांतर उक्त ग्रंथ से संक्षेप में किया है।

रचना जिस रूप में प्राप्त हुई है, उसमें २२३० श्लोक हैं और वह जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, मानुष क्षेत्र, द्वीप समुद्र, काल ज्योतिर्लोक, भवनवासी लोक, अधोलोक, व्यन्तर लोक, स्वर्ग लोक और मोक्ष इन ग्यारह विभागों में विभाजित है।

ग्रंथ में कहीं-कहीं तिलोयपण्णत्ति, आदि-पुराण, त्रिलोक सार, एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि ग्रंथों के अवतरण या उल्लेख पाये जाते हैं, जिसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रंथ की रचना ११वीं शताब्दी के पश्चात हुई है।

तिलोयपण्णत्ति

त्रैलोक्य सम्बन्धी समस्त विषयों को पूर्णतः और सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित करने वाला उपलब्ध प्राचीनतम ग्रंथ है।

इस ग्रंथ की रचना प्राकृत गाथाओं में हुई है।

ग्रंथ नौ मताधिकारों में विभाजित है, यथा १ सामान्य लोक, २ नारक लोक, ३ भवनवासी लोक, ४ मनुष्य लोक, ५ तिर्यक् लोक,

६ व्यन्तर लोक, ७ ज्योति लोको, ८ देव लोक, ९ सिद्ध लोक। ग्रन्थ में ५६७७ गाथाएँ हैं।

इस ग्रन्थ के कर्ता यतिवृषभाचार्य हैं, जो कषायप्राभृत की चूर्णि के लेखक से अभिन्न ज्ञात होते हैं।

त्रिलोकसार

इसके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती है।

यह ग्रन्थ १०१८ प्राकृत गाथाओं में पूरा हुआ है। इसमें लोकसामान्य, भवन, व्यन्तर, ज्योतिष वैमानिक और नर-तिर्यक् लोक ये छ अधिकार पाये जाते हैं।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुसार ही संक्षिप्त में विषय वर्णन किया गया है। इसका रचनाकाल ई० ११वीं शताब्दी है।

जम्बूद्वीपपण्णत्ति

इसके रचयिता पद्मनन्दि मुनि है।

इसमें २३८९ प्राकृत गाथाएँ हैं और इसकी रचना तिलोयपण्णत्ति के आधार पर की गई है।

इसका समय १०वीं शताब्दी है और रचना कोटा राज्य के बारां नामक स्थान पर की गई।

इसके तेरह उद्देश्य इस प्रकार हैं—१ उपोद्घात २ भरत-एरावत वर्ष ३ शैलनन्दीभोग-भूमि ४ सुदर्शन मेरु ५ मंदिर जिनभवन ६ देवोत्तर कुरु ७ कक्षा विजय ८ पूर्व विदेह ९ अपर विदेह १० लवण समुद्र ११ द्वीप सागर—

अधः उर्ध्व सिद्ध लोक १२ ज्योतिर्लोक और १३ प्रमाण परिच्छेद ।

श्वेताम्बर परम्परा में इस विषयक आग-मान्तर्गत सूर्य, चन्द्र व जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तियों के अतिरिक्त क्षेत्रसमास एवं संग्रहणी उल्लेखनीय है । इन दोनों ही रचनाओं के परिमाण में क्रमशः बहुत परिवर्द्धन हुआ है और उनके लघु और बृहद् रूप संस्करण टीकाकारों ने प्रस्तुत की है ।

बृहत्क्षेत्रसमास

इसमें ६५६ गाथाएँ हैं जो पांच अधिकारों में इस प्रकार विभक्त है । १ जम्बूद्वीप २ लवणोदधि ३ धातकीखण्ड ४ कालोदधि और ५ पुष्करार्द्ध ।

बृहत् संग्रहणी जिसका दूसरा नाम त्रैलोक्य दीपिका है ।

इसके संकलनकर्ता मलधारी आ. हेमचन्द्र-सूरि के शिष्य आ. चन्द्रसूरि है । जिनका समय १२वीं शताब्दी है ।

इस ग्रंथ में ३४९ गाथाएँ हैं । इसमें लोकों की अपेक्षा उनमें रहने वाले जीवों का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है ।

लघुक्षेत्रसमास

इसके रचयिता आ. रत्नशेखरसूरि हैं । जिनका समय १४वीं शताब्दी है । इसमें कुल ४८९ गाथाएँ हैं । इनमें अढ़ाई द्वीप प्रमाण मनुष्य लोक का वर्णन है ।

विचारसार प्रकरण

रचनाकार आ. देवसूरि के शिष्य आ. प्रद्युम्नसूरि हैं । समय १३वीं शताब्दी है ।

इसमें ९०० गाथाओं द्वारा कर्मभूमि, भोग-भूमि, आर्य-अनार्य देश, राजधानियां, तीर्थकरों के पूर्वमत, माता-पिता, स्वप्न, जन्म आदि एवं समवसरण, गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य, कल्कि, शक व विक्रम काल गणना दश निन्हव, ८४ लाख योनियों व सिद्ध इस प्रकार नाना विषयों का वर्णन है । इस ग्रंथ पर आ. माणिक्य सागर सूरि कृत संस्कृत छाया उपलब्ध है ।

लोकविन्दु क्षेत्रसमास वृत्ति

इसके रचयिता आ. हरिभद्रसूरि हैं और समय ८वीं शताब्दी है ।

क्षेत्रसमास वृत्ति

पूर्व में इन नाम के ग्रंथ का उल्लेख किया चुका है । प्रस्तुत ग्रंथ उससे भिन्न लेखक विजय-सिंह द्वारा लिखित है ।

जो कि १४वीं शताब्दी में पाली (राजस्थान) में लिखा गया था ।

चन्द्रविजय प्रबन्ध

ग्रंथ के रचयिता का नाम मंडन है । जो कि मालवा के सुलतान होशंग गोरीका प्रधान-मंत्री था ।

इसी कारण लेखक मंत्रो मंडन के नाम से प्रख्यात है ।

इस ग्रंथ की रचना तिथि सं. १५०४ है । इस ग्रंथ में चन्द्रमा की कलाएँ, सूर्य के साथ चन्द्रमा का युद्ध और अन्त में चन्द्रमा की विजय आदि का वर्णन दिया गया है ।

तम्बूद्वीप-प्रज्ञप्तिका

इसके रचयिता पुण्यसागर महोपाध्याय हैं, स ग्रन्थ की रचना ई० १५८८ जैसलमेर में ही थी।

तम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका

क्षेमेन्द्रकीर्ति के शिष्य सुरेन्द्रकीर्ति ने सन् ७७६ में संस्कृत में लिखी थी।

ये कुछ प्रारम्भिक स्फुट ग्रन्थ हैं, जिनमें गोल-सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख विस्तार किया गया है।

इसके अतिरिक्त ज्योतिष के ग्रन्थों में भी गोल-विषय से सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध होती है।

संस्कृत और अपभ्रंश के पुराणों में जैसे हरिवंश पुराण, महापुराण, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, चउपण्णमहापुरिस यदिगुणालंकार में भी त्रैलोक्य का वर्णन पाया जाता है।

विशेषकर जिनसेनकृत संस्कृत हरिवंश पुराण (८वीं शताब्दी) इसके लिये प्राचीनता और-विषय विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

हरिवंश-पुराण के ४थे से सातवें सर्ग तक क्रमशः अधोलोक, तिर्यग्लोक, और उर्ध्वलोक और काल का विशद् वर्णन किया गया है, जो प्रायः तिलोय पण्णत्ति से साम्य रखता है।

तत्त्वज्ञान की गंभीरता

इन्द्रिय-मन एवं बुद्धि से समझे जाने वाले पदार्थों के पेले पार आत्म तत्त्व की संवेदना पूर्वक वस्तु-स्वरूप का निर्णय तत्त्वज्ञान की आधारशिला है।

उसमें इन्द्रिय, बुद्धि मन का सहयोग है, परंतु ये तीनों सीमित होने से तत्त्वज्ञान का प्रतिपाद्य अतीन्द्रिय स्वरूप का निर्णय करने में समर्थ नहीं।

अतः विनीतभाव से आत्म-समर्पण पूर्वक गुरु-चरणों में बैठकर बड़ी निष्ठा-गंभीरता के साथ तत्त्वज्ञान के हार्द को पाने की चेष्टा करना विवेकी जनो का पवित्र कर्तव्य है।



सुख-मीमांसा

लेखक : परमपूज्य अध्यात्मयोगी पंन्यास
प्रवर श्री भद्रंकर विजयजी
गणिवर्य के शिष्य
मुनि रत्नसेनविजय



दुःखद्विद् सुखलिप्सुमोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः ।
यां यां करोति चेष्टां, तथा तथा दुःखमादत्ते ॥

प्रशमरति गाथा सं. ४०

अर्थ :—मोह के अन्धत्व के कारण गुण और दोष को नहीं जानने वाला, दुःख का द्वेषी और सुख का प्रेमी जीव ज्यों ज्यों प्रवृत्ति करता है, त्यों त्यों दुःखको ही प्राप्त करता है।

इस विशाल जगत में रहे हुए समस्त प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, इस विषय में किसी भी दर्शनकार अथवा व्यक्ति को आपत्ति नहीं है ! मात्र सुख की इच्छा है, इतना ही नहीं, परन्तु जीव मात्र का प्रयत्न भी सुख के लिए ही होता है । सुख का राग और दुःख का द्वेष प्राणीमात्र में देखने को मिलता है ।

सुख की तीव्र इच्छा और सुख के लिए अथाग प्रयत्न होने पर भी जगत में सुखी व्यक्ति कितने देखने को मिलते है ? तिर्यचों को जाने दें, मनुष्य की ही बात करें ! मनुष्य में दिखने वाले अमीर-गरीब, राजा-नौकर, डॉक्टर-रोगी, वकील-बेरिस्टर तथा शिक्षक-विद्यार्थी आदि किसी को भी पूछेंगे तो वास्तविक जवाब यही मिलेगा कि 'मैं दुःखी हूँ !' सभी के पास समस्याएँ हैं, परन्तु समाधान किसी के पास नहीं !

समस्या बड़ी ही जटिल है ! इच्छा और प्रयत्न का सुमेल होने पर भी सफलता क्यों नहीं ? बस ! इसी बात का समाधान हमें प्रशमरतिकार उमास्वातिजी म. करते हैं, वे कहते हैं कि—संसारी जीव ज्यों ज्यों सुख के लिए प्रयत्न करता है, त्यों त्यों दुःख को ही प्राप्त करता है, क्यों कि वह मोह से अंध होने के कारण वस्तु के गुण-दोषों से अनभिज्ञ है ।

मोह अर्थात् बुद्धि का विपर्यास-मिथ्यामति अथवा अज्ञानता !

बुद्धि के विपर्यास के कारण व्यक्ति, गुणी-जन के गुण नहीं देख सकता है और अवगुणी के दोष को भी नहीं पहचान सकता है ! अर्थात् गुण में दोष का तथा दोष में गुण का आरोपण करता है, और इस विपर्यास के कारण उसकी प्रवृत्ति दुःखदायी ही बनती है ।

जैसे उदाहरण के तौर पर अहमदाबाद निवासी श्री राम को बम्बई जाने की इच्छा है, वह स्टेशन पर आकर बम्बई की टिकिट खरीद कर, अपनी अज्ञानता के कारण दिल्ली की ओर जाने वाली गाडी में बैठ जाता है । गाडी अपनी तीव्र गति से आगे बढ़ती है । परन्तु क्या श्रीराम बम्बई पहुँच जायेगा ? कदापि नहीं ! यह बात तो छोटा सा बालक भी समझ सकता है ।

अतः सफलता का आधार मात्र 'इच्छा और प्रयत्न' ही नहीं हैं, परन्तु इसके साथ ही वह प्रयत्न सम्यग् भी होना आवश्यक है ।

बस ! इसी बात को हमें समझने का है, सुख की इच्छा है, सुख के लिए प्रयत्न भी है, अब मार्ग का भी सम्यग् होना आवश्यक है ।

ज्ञानी पुरुषोंने सुख के तीन लक्षण बताये हैं—

- (१) शाश्वत (२) निरपेक्ष अर्थात् स्वाधीन और
- (३) अनंत और अव्याबाध !

उपरोक्त तीन विशेषणों से युक्त सुख को ही ज्ञानियोंने वास्तविक सुख कहा है । दुनियाँ में रहे किसी भी बुद्धिमान पुरुष को पूछा जायेगा तो वह इसी प्रकार के सुख को चाहेगा !

इस प्रकार के सुख की इच्छा होने पर भी संसारी जीव का प्रयत्न क्या होता है ? वह भी हम देख लें ।

मोह की अंधता के कारण संसारी जीव अर्थ तथा काम की पूर्ति में ही सुख की कल्पना करता है ! इन्द्रियों के वैषयिक सुख (जिसे ज्ञानियों ने दुःख रूप कहा है) में ही वह सुख की कल्पना करके उसी की प्राप्ति के लिए वह आकाश—पाताल एक करता है । धन की प्राप्ति के लिए वह तन—तोड़ महेनत करता है और उसके फल स्वरूप रसवती भोजन, सुगंधी पुष्पों की सुगंध, रूपवती स्त्री का रूप—दर्शन, मधुर व कर्णप्रिय संगीत और मैथुन—सेवन में ही वह सर्वस्व सुख मान बैठा है ! अनुकूल विषय की प्राप्ति होने पर राग करता है और प्रतिकूल विषय मिलने पर द्वेष करता है । विषय के संग में आनंद अनुभव करता है और उसके विरह में अत्यंत दुःख को अनुभवता है ।

अनंतज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा फरमाते हैं कि अनुकूल जड—पदार्थ के संयोग में सुख मानना यही संसारी जीव की घोर अज्ञानता है । क्योंकि सुख यह आत्मा का धर्म है—जड़ का नहीं ! जिस वस्तु में जो धर्म अथवा स्वभाव होता है, उस धर्म अथवा स्वभाव का अनुभव हमें उसी वस्तु से संभव है—अन्य वस्तु से नहीं ! जल में शीतलता का धर्म है और अग्नि में उष्णता का ! अतः यदि आपको शीतलता का अनुभव करना हो तो पानी में हाथ डालना चाहिये, अग्नि में नहीं ! अग्नि में नहीं रहे हुए शीतत्व धर्म की प्राप्ति, यदि कोई अग्नि से प्राप्त करना चाहे, तो वह व्यक्ति मूर्ख—शिरोमणि ही कहलायेगा !

तैल की प्राप्ति मूंगफली के दानों के पीसने से हो सकती है, परन्तु मूंगफली के छिलकों को पीसने से नहीं ।

उपरोक्त दृष्टांत द्वारा ज्ञानी भगवंत हमें यही समझाते हैं कि सुख की प्राप्ति आत्मा से ही हो सकती है, जड़ से नहीं । जड स्वयं अचेतन हैं, अतः उसके धर्म अन्य हैं, परन्तु सुख देने का धर्म जड में नहीं है ।

शरीर, इन्द्रिय तथा आहार आदि जड पदार्थ हैं, उनमें से सुख—प्राप्ति की इच्छा यही अपनी अज्ञानता है । अनंतज्ञानी—महापुरुषों ने वैषयिक—सुख को दुःख रूप ही माना है, क्योंकि वह सुख (१) क्षणिक है, (२) सापेक्ष अथवा पराधीन है और (३) अल्प और बाधायुक्त है ।

(१) जड पदार्थ क्षण—भंगुर है अर्थात् प्रतिक्षण उनमें परिवर्तन होता ही रहता है ! नवीन

वस्तु में रूप—रस—गंध तथा स्पर्श आदि सानुकूल होने से वह वस्तु अपने को सुखदायी लगती है परन्तु समय के परिवर्तन के साथ उस वस्तु के रूप—रसादि में न्यूनता आती है, तब वही वस्तु अपने लिए दुःखदायी बन जाती है, अतः स्पष्ट हो जाता है कि वैषयिक सुख क्षणिक है।

(२) वैषयिक सुख सापेक्ष और पराधीन भी है। आपको मधुरता का अनुभव करना होगा तो ईख के रस की अपेक्षा रखनी पड़ेगी और इसके साथ ही उस अनुकूल वस्तु की प्राप्ति भी पुण्य के आधीन है। पुण्य का Balance होगा, तब तो विषयानुकूल सामग्री मिल जायेगी, परन्तु ज्यों ही पुण्य क्षीण होगा, त्यों ही हताशा ही हाथ लगेगी।

(३) वैषयिक सुख अल्प और बाधायुक्त है। विषय के भोग में क्षणभर के लिए आनंद अनुभव होता है और विषय—भोग के बाद भी सदा अतृप्ति ही रहती है। इतना ही नहीं वैषयिक—सुख प्रारम्भ में आनंद देता है, परन्तु उसके परिणाम अति कटु हैं। विषय—राग के कारण आत्मा इस प्रकार के गाढ कर्मों का बंध करती है कि जिसके फल स्वरूप आत्मा दीर्घकाल तक भयंकर दुःखों का ही अनुभव करती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैषयिक—सुख वास्तव में सुख रूप नहीं है।

आज का विज्ञान मानव—समाज के कल्याण के नाम पर दिन—प्रतिदिन नये नये आविष्कार कर रहा है। भौतिकता के प्रत्येक क्षेत्र में वह आगे बढ़ रहा है, परन्तु इतना होने पर भी

विचार करें कि उसका यह विकास किस दिशा में है ? ज्यों ज्यों भौतिकता के साधन बढ़ते जा रहे हैं, त्यों त्यों मानव—समाज पराधीनता के सिकंजे में जकड़ा जा रहा है। भौतिक सुख-समृद्धि मानव को कभी तृप्त नहीं कर सकती है, क्योंकि उसका स्वभाव ही क्षण—भंगुर है।

क्षण—भंगुर सुख के लिए विज्ञान का यह अथाग प्रयत्न ! अब हम इसे विकास कहें अथवा विनाश कहें ? यही प्रश्न खड़ा हो जाता है ! विज्ञान भौतिकता के विकास में सुख की कल्पना करता है, यही उसकी भ्रांति है।

सुख आत्मा का धर्म है, आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अजर और अमर है। सर्व कर्मों से मुक्त आत्मा शाश्वत, निरपेक्ष—स्वाधीन और अनंत—सुख का अनुभव करती है।

क्या इस सुख को प्राप्त करने की इच्छा है ? तो अपने हृदय—मंदिर में कषायों के दाह का शमन करो, विषय—विराग की शीतलता प्रगट करो। सम्यग्—दर्शन से मिथ्यात्व रूपी कचरे को दूर करो, सम्यग्ज्ञान के दीप को प्रज्वलित करो, मैत्री आदि भावनाओं से अपने मन को भावित करो और सम्यग् चारित्र का बराबर पालन करो।

उपरोक्त प्रभु—आज्ञा के पालन से आत्मा अवश्य निर्मल बनेगी ! आत्मा के प्रशम—भाव के सुख का साक्षात्कार होगा और क्रमशः आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त बनकर शाश्वत—निरपेक्ष स्वाधीन—अव्याबाध और अनंत सुख की भोक्ता बनेगी।



भावना वर्गीकरण

लेखक-पं. रमेशमुनि शास्त्री



प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं—मन, वचन, और काया ।

कभी प्रवृत्ति—स्रोत शुभ की ओर प्रवहमान होता है और कभी अशुभ की ओर भी ।

भावना ही प्रवृत्ति—स्रोत को शुभ—अशुभ की ओर मोड़ देनेवाली है । इस के द्वारा ही कार्य की प्रवृत्ति होती है । तथ्य यह है कि भावना जीवन के प्रत्येक मोड़ पर प्रहरी के रूप में खड़ी रहती है ।

आगम—साहित्य में भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है ।

वहाँ अनुप्रेक्षा का अर्थ व्यक्त करते कहा गया है कि—

ईक्षा का अर्थ दृष्टि अथवा देखना, इस के पूर्व प्र उपसर्ग लगाने पर अर्थ हुआ गहराई से किसी वस्तु पर चिन्तन करना ।

जब चिन्तन आत्मा आदि उदात्त विषयों के सम्बन्ध में चलता है, तब उसको अनुप्रेक्षा कहा जाता है । अनुप्रेक्षा का एक अर्थ यह भी उपयुक्त है कि—

बार—बार चिन्तन को एक विषय पर केन्द्रित करके, अर्थात् यों कहा जा सकता है किसी एक वस्तु को केन्द्र बनाकर उस का पुनः पुनः चिन्तन करना ।

यही स्थिति “ध्यान” की बनती है ।

अतः स्पष्ट है कि भावना का अग्रिम रूप ध्यान है ।

इसी दृष्टि आगम के अतिरिक्त भावना के स्थान पर “अनुप्रेक्षा” शब्द का प्रयोग देखा गया है ।

भाव शब्द से “भावना” की निष्पत्ति हुई है । भाव का अर्थ है—चित्त का अभिप्राय । अन्तःकरण की परिणति—विशेष विचार अथवा अभिप्राय जब—जब भी मन में बार—बार उठने लगते हैं, रमने लगते हैं तब वह भाव अर्थात् भावना का रूप धारण करता है यह भावना शब्द चिन्तन, अध्यवसाय वासना और संस्कार आदि के रूप में भी व्यवहृत हुआ है ।

किसी भी विषय का मनोयोग पूर्वक चिन्तन करना भावना है । चिन्तन करते करते वहीं

१—क स्थानाङ्ग ४।१।

ख—उत्तराध्ययन सूत्र—२९।२२।

२—तत्त्वार्थ सूत्र ९।७।

३—आचारांग टीका श्रु० १ अ० २ ऊ० ५ ।

४—सूत्रकृतांग टीका श्रु० १ अ० १५ ।

५—क अभिधान राजेन्द्र कोष भाग—५ पृ. ३९७ ।

ख आचारांग श्रु० १ अ० ८ ऊ० ६ टीका ।

संस्कार रूप बन जायेंगे, बद्धमूल हो जायेंगे, इसलिये यह कहना सर्वथा संगत होगा कि भावना एक प्रकार का संस्कार है, वासना है, अध्यवसाय है ।

यह भावना पूर्वकृत-अभ्यास के द्वारा बनता है । अभ्यास ही धीरे-धीरे भावना के रूप में परिणत होता है ।

संक्षेप में भावना के दो प्रकार प्रतिपादित हैं : शुभ-भावना और अशुभ-भावना ।

आगमीय भाषा में इन्हें असंक्लिष्ट भावना और संक्लिष्ट भावना भी कहा गया है ।

अशुभ भावना—

अशुभ भावना जो कि सर्वतोभावेन हेय है । उस के नौ और पाँच भेदों का वर्णन मिलता है । नौ भेद इस प्रकार हैं—

- १ हिंसानुबन्धी भावना
- २ मृषानुबन्धी भावना
- ३ स्तेयानुबन्धी भावना
- ४ मैथुन सम्बन्धी भावना
- ६ लोभानुबन्धी भावना ।
- ५ परिग्रह सम्बन्धी भावना
- ७ क्रोधानुबन्धी भावना
- ८ मानानुबन्धी भावना
- ९ मायानुबन्धी भावना

ये भावनायें अव्रत एवं कषाय से सम्बन्धित हैं, यदि कोई भी इन अप्रशस्त भावना का आचरण करता है तो वह अपनी आत्मा को दूषित करता है ।

इतना ही नहीं इन मलिन-भावनाओं के अनुसार देव-दुर्गति को प्राप्त होता है और वहाँ से च्यवकर अनन्त भव-सागर में पर्यटन करता है ।

अशुभ-भावना के पाँच भेद ओर भी है जिन का प्रतिपादन आगमों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में इतनी गहराई में उतरकर किया गया है कि देखते ही बनता है, उनका पर्यालोचन करने पर भावना-विषयक चित्र सुस्पष्ट हो जाता है । पाँच अशुभ-भावनाएं इस प्रकार हैं—

- १ कंदर्पी भावना २—किल्बिषी भावना
- ३—अभियोगी भावना ४—आसुरी भावना ५—सम्मोही भावना ।

आगम-साहित्य में कहीं-कहीं चार चार भावनाओं का काफी-विस्तार के साथ विवेचन मिलता है और उन के अवान्तर भेदों का भी वर्णन प्राप्त होता है । चार भावनाओं का उल्लेख इस प्रकार है—

- १—ऋदर्प भावना ३—किल्बिषी भावना ।
- २—आभियोगी भावना ४—आसुरी भावना ।

६—हरिभद्र का ध्यान शतक ३० ।

७—बृहत्कल्प भाष्य भाग-२ गाथा १२९० वृत्ति ।

८—बृहत्कल्प भाष्य ९—बृहत्कल्प भाष्य-गाथा १३२७ ।

१०—क—बृहत्कल्प भाष्य, भाग-२ गाथा १२९३ ।

ख—मूलाचार गाथा—६३ ।

ग—भगवती आराधना मूल १७९।३६९।

घ—ज्ञानार्णव ४।४१।

११—क—स्थानाङ्ग सूत्र ४।३.४ सूत्र ३५४

ख—उत्तराध्ययन सूत्र ३६ । गाथा २६१ से २६४ ।

यह एक ज्ञातव्य तथ्य है कि आगमों में जहाँ चार प्रकार की भावनाओं का वर्णन मिलता है, वहाँ भेदों की समानता में अन्तर नहीं है पर उनके नाम और क्रम में कुछ भेद भी है।

ये अशुभ भावनायें आत्मा को पतन की ओर ले जाती है। इनसे मन दूषित एवं अशान्त रहता है,

अतः ये हेय हैं। जो इनका आचरण करता है वह अपने अन्तःकरण रूप मंदिर को सजाता नहीं है, संवारता भी नहीं है।

शुभ-भावना-

आगमों तथा आगमोत्तर-साहित्य में शुभ-भावना के संदर्भ में बहुत ही विस्तार के साथ विवेचन-विश्लेषण उपलब्ध होता है, शुभ भावनाओं के द्वारा व्रतों के परिपालना में अविचलता आती है^{१२}। ज्योतिर्मयप्रभु महावीर ने अति स्पष्ट शब्दों में कहा है कि-

“जो श्रमण पाँच महाव्रतों की पञ्चीस भावनाओं में निरन्तर यत्नशील रहता है, मनो-योगपूर्वक उन का चिन्तन-मनन करता है, उस को संसार में परिभ्रमण भी नहीं करना पड़ता है^{१३}।”

पंच महाव्रत रूप चारित्र से सम्बन्धित होने के कारण इन भावनाओं को चारित्र-भावना भी कहा जा सकता है,

पाँच महाव्रतों की पञ्चीस भावनाओं का काफी विस्तृत वर्णन भी मिलता है।

हम उनकी विस्तार से विचार चर्चा प्रस्तुत नहीं करेंगे। यहाँ तो इनका नामग्राही परिचय देना ही अभीष्ट-कार्य है^{१४}।

प्रथम-महाव्रत की पाँच भावनायें-

- १ ईर्या समिति
- २ मनपरिज्ञा
- ३ वचनपरिज्ञा
- ४ आदान-निक्षेप-समिति
- ५ आलोकित-पानभोजन

द्वितीय महाव्रत की पाँच भावनायें-

- १ अनुवीचि भाषण
- २ क्रोध प्रत्याख्यान
- ३ लोभ प्रत्याख्यान
- ४ अभय प्रत्याख्यान
- ५ हास्य प्रत्याख्यान

तृतीय महाव्रत की पाँच भावनायें-

- १-अनुवीचि मितावग्रह याचन
- २-अनुज्ञापित-पानभोजन
- ३-अवग्रह का अवधारण
- ४-अभीक्षण अवग्रह-याचन
- ५-साधर्मिक के पास से अवग्रह-याचन

चतुर्थ महाव्रत की पाँच भावनायें-

- १-स्त्रीकथा का वर्जन

१२-तत्त्वार्थ सूत्र ७।३।

१३-उत्तराध्ययन ३।१।७।

१४-क-आचारांग-भावना अध्ययन ख-समवायांग समवाय २५ वां

ग-प्रश्न व्याकरण सूत्र संवर द्वार अध्ययन ६ से १० तक।

घ-तत्त्वार्थ सूत्र ७।३।

- २-स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग का अवलो-
कन-वर्जन
३-पूर्वभुक्त-भोग की स्मृति का वर्जन
४-अतिमात्र प्रणीत पान-भोजन का वर्जन
५-स्त्री आदि संसक्त शय्यासन का वर्जन ।

पंचम महाव्रत की पाँच भावनायें-

- १-मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द में समभाव !
२-मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में समभाव !
३-मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध में समभाव !
४-मनोज्ञ और अमनोज्ञ रस में समभाव !
५-मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव !

यह सच है कि आगम-साहित्य भावना के विषय में कुछ शाब्दिक-भेद अवश्य है, कहीं-कहीं क्रम की भिन्नता भी परिलक्षित होती है, किन्तु भावना के रूप-स्वरूप, प्रकार-परिवार आदि के विषय में प्रतिपाद्य-सम्बन्धी कोई अन्तर नहीं है !

यह एक ज्ञातव्य तथ्य है कि आगम-साहित्य के उत्तरकालीन-वाङ्मय में भी चारित्र

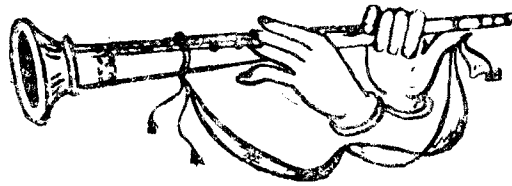
की पच्चीश-भावनाओं का जो वर्णन आता है वह भी अत्यधिक विस्तार के साथ भावपूर्ण है अत्यन्त-सरस और जीवनस्पर्शी है ।

इस संन्दर्भ में यह भी जानने जैसा तथ्य है कि कहीं-कहीं नामभेद और कहीं-कहीं शब्द-शैली का भेद भी दिखाई देता है, फिर भी पच्चीश भावनाओं के स्वरूप के विषय में सर्वत्र समानता का संदर्शन होता है ।

अतिसंक्षिप्त-शैली में भावना के वर्गीकृत-रूप का परिचय दिया गया है ।

इस सम्बन्ध में जैन-साहित्य के प्रकाश में जितना गहरा और अति-सूक्ष्म विचार करने पर एक शोधात्मक-दृष्टि लिये हुये ग्रन्थ का प्रणयन भी हो सकता है ।

मेरा इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह मत है कि “ जैन-मनीषियोंने ‘भावना’ के संन्दर्भ में जितना विचार-चिन्तन किया है, व्यापक और सूक्ष्मदृष्टि से भावना-योग का वर्णन किया है वह वस्तुतः अपूर्व है, अनूठा है । ”





प्राचीन भारत की जैन शिक्षा-प्रणाली

लेखक : महोपाध्याय डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन
रीडर, संस्कृत-प्राकृत एवं पालि-विभाग,
विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन.



शिक्षा का उद्देश्य :-

भारत में प्राचीन काल में, शिक्षा का उद्देश्य, सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन-संस्कृति की रक्षा, तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों की शिक्षा देना था।^१

छात्र जीवन :-

प्रायः छात्र अपने अध्यापकों के घर पर ही रहकर अध्ययन किया करते थे। कुछ धनी लोग नगर में भी छात्रों को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन में सहायक होते थे।^२

अवकाश के समय आश्रम बंद हो जाते थे। अकाल मेघों के आ जाने पर, गर्जन, बीजली का चमकना, अत्यधिक वर्षा, कोहरा, धूल के तूफान, चन्द्र-सूर्यग्रहण आदि के समय प्रायः अवकाश हो जाता करता था। दो सेनाओं अथवा दो नगरों में आपस में युद्ध द्वारा नगर की शांति भंग हो जाने पर, मल्ल-युद्ध अथवा नगर के सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर भी अध्ययन बन्द कर दिया जाता था। कभी, बिल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना, रास्ते में अण्डे

का मिल जाना, जिस जगह स्कूल है उस मुहल्ले में बच्चे का जन्म होना आदि तुच्छ कारणों से भी विद्याध्ययन का कार्य कुछ समय के लिए बन्द कर दिया जाता था।^३

जब छात्र अध्ययन समाप्त करके घर वापिस आते थे, तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे सम्मान दिया जाता था। जैसे कि आर्य 'रक्षित' जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त करके घर वापिस आया तो उसका राजकीय-सम्मान किया गया। सारा नगर पताकाओं तथा बन्दनवारों से सुसज्जित किया गया। आर्य 'रक्षित' को हाथी पर बिठाया गया तथा लोगों ने उसका सत्कार किया। उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगों ने उसे दास, पशु, सुवर्ण आदि द्रव्य दिया।^४

आचार्य :-

अध्यापक का बहुत ही सम्मान किया जाता था। 'रायपसेणिय' में ३ प्रकार के आचार्यों का वर्णन है :-

१ कला के अध्यापक (कलायरिय)

१-“एज्युकेशन इन एंशियेंट इंडिया” डॉ. आल्तेकर, पृष्ठ-३२६

२-उत्तराध्ययन टीका-८-पृ० १२४।

३-ववहार भाष्य-७-२८१-३१६।

४-उत्तराध्ययन टीका २-पृ० २२ अ।

२ शिल्प के अध्यापक (सिष्पायरिय)

३ धर्म के अध्यापक (धम्मायरिय)

यह विधान था कि प्रथम दो आचार्यों के शरीर पर तैल मर्दन किया जाय, उन्हें पुष्प भेंट किए जाय, उन्हें स्नान कराया जाय, उन्हें सुन्दर-बख्तों से सुसाज्जत किया जाय, उन्हें योग्य पारिश्रमिक एवं पारितोषिक दिया जाय; इसी प्रकार धर्माचार्य का भी भोजन पान आदि द्वारा योग्य सम्मान कर के उन्हें विविध प्रकार के उपकरणों से संतुष्ट किया जाय ।^१

आचार्य को ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण योग्य होना आवश्यक था । यह भी आवश्यक था कि आचार्य, किसी छात्र द्वारा प्रश्न किए जाने पर उसका पूर्ण सही एवं सन्तोषप्रद उत्तर दे तथा उसका असम्बद्ध उत्तर न दे ।^२

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशों पर पूर्ण ध्यान दे, प्रश्न करे, अर्थ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का भी प्रयत्न करे ।^३ योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे, गुरु से असद् व्यवहार नहीं करते थे, झूठ नहीं बोलते थे, तथा गुरु की आज्ञा का पालन करते थे । यदि वह देखता था कि गुरु क्रोध में है तो दोनों हाथ जोड़कर क्षमा प्रार्थनापूर्वक भविष्य में कभी भी अपराध

न करने की प्रतिज्ञा कर गुरु को शान्त करने का प्रयत्न करता था ।

यह आवश्यक था कि छात्र कभी भी गुरु के बगल में, सामने अथवा पीछे न बैठे, खाट अथवा मंच पर बैठकर प्रश्न न करे किन्तु अपने आसन से उठकर गुरु के पास आकर दोनों हाथ जोड़कर गुरु से प्रश्न करे ।^४

अयोग्य विद्यार्थी भी हुआ करते थे । वे गुरु से हमेशा हस्तताडन तथा पादताडन (खड्डुया, चपेड़ा) प्राप्त किया करते थे । वे वेत्र-ताडन भी प्राप्त करते थे तथा बड़े कठोर शब्दों से सम्बोधित किये जाते थे ।^५ अयोग्य विद्यार्थियों की तुलना दुष्ट बैलों से की गई है । वे गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते थे । कभी कभी गुरु ऐसे छात्रों से थककर उन्हें छोड़ भी दिया करते थे ।^६

छात्रों की तुलना पर्वत, घड़ा, चलनी, छुन्ना राजहंस, भैंस, भेड़ा, मच्छर, जोंक, विल्ली, गाय, ढाल आदि पदार्थों से की गई है जो उसकी योग्यता और अयोग्यता की और संकेत करते हैं ।^७

— अध्ययन —

अध्ययन दो प्रकार का था—धार्मिक और लौकिक । धार्मिक—अध्ययन में प्रधानतः जैन

१-स्थानांग (३, १३५)

३-वही (२२)

४-उत्तराध्ययन (१, १३, १२, ४१, १२, २२)

५-वही (३८, ३, ६५-अ)

७-आवश्यक निर्युक्त १३६, आवश्यक चूर्णि पृ० १२१-४, बृहतकल्प भाष्य, पृ० ३३४ ।

२-आवश्यक निर्युक्ति (१३६)

६-वही (२७, ८, १३, १६)

आगम धर्म तथा दर्शन का अध्यापन होता था। उसकी विधि के वाचना (पढना), पृच्छना (गुरु से पूछना), अनुप्रेक्षा (चित्तन) आम्नाय (मनन) और धर्मोपदेश ये पांच अंग थे। लौकिक अध्ययन में सब से प्रथम वेद का अध्ययन किया जाता था। स्थानांग (३, ३, १२५) में ३ वेदों के नाम हैं। १-ऋग्वेद, २-यजुर्वेद, ३-सामवेद।

निम्न प्रकार अध्ययन क्रम था।

छह वेद :- १-ऋग्वेद, २-यजुर्वेद, ३-सामवेद,
४-अथर्व वेद, ५-इतिहास (पुराण),
६-निघण्टु,

छह वेदांग-१-संखाण (गणित), २-सिक्खा (स्वरशास्त्र), ३-कप्प (धर्मशास्त्र),
४-वागरण (व्याकरण) ५-छन्द,
६-निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा जोइस (ज्योतिष)

छह उपांग-उनमें प्रायः वेदांगों में वर्णित विषयों का और भी अधिक विस्तार मात्र था।
उत्तराध्ययन (३ पृ० ५६-अ) में निम्न १४ प्रकार के पठनीय (विज्जट्टाण) विषयों का वर्णन है।

४ वेद, ६ वेदांग, मीमांसा, नाय, पुराण तथा धम्म सत्थ। अनुयोगदार (सू० ४०) तथा नन्दी (सू० ४२ पृ० १६३) में लौकिक-श्रुत निम्न प्रकार माने गए हैं -

भारह, रामायण, मीमांसुरुक्क, कोडिल्लय, षोडयमुह, सगडिभड्डिआऊ, कप्पासिअ, नाग-

सुहुम, कणगत्तरि, वेसिय, वेसेसिय, बुद्धसौसण, कविल, लोगायत, सट्टितन्त, माढर, पुराण, वागरण, नाडग, ७२ कलाएँ, ४ वेद-अंग तथा उपांग सहित, तेरासिय, भागव, पातञ्जलि, पुस्सदेव।

स्थानांग (६-६७२) में पापश्रुतों का वर्णन है-
१-उप्पायः-(अपशकुन विज्ञान जो कि रक्त-वर्षा अथवा देश पर आनेवाली आपत्ति की सूचना दे)

२-निमित्त-(शकुन विज्ञान)

३-मन्त्र-(जादू, टोना आदिक का विज्ञान)
इन्द्रजाल विद्या।

४-आइक्खिय-(निम्न-प्रकार की इन्द्रजाल विद्या)

५-तेगिच्छिय-(चिकित्सा विज्ञान)

६-७२ कला

७-गृहविज्ञान-(आवरण)

८-मिच्छापवयण-(मिथ्यात्व प्रवचन)-

७२ कलाएँ :-

जैन आगमों में ७२ कलाओं का अनेक जगह वर्णन है^३।

सभी छात्र इन सम्पूर्ण कलाओं को प्राप्त नहीं करते थे, किन्तु इन कलाओं का प्राप्त करना उद्देश्य आवश्यक रहता था। बहुत ही कम छात्र इन सम्पूर्ण कलाओं में निपुणता प्राप्त कर पाते थे।

इन ७२ कलाओं का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया गया है :-

१-भागवती (२, १,) तथा औपपातिक दशा सूत्र (३८ पृ० १७२)

२-गाया धम्माकहाओ-१, पृ० २१ समवायांग, पृ० ७७ अ, ओवाइय सुत्त-४०, रायपतेणिय सुत्त-२१६)

१-पढ़ना तथा लिखना :-

लेह (लेख), गणिय (गणित) ।

२-कविता बनाना :-

पोरकव्व (कविता बनाना), अज्जा (आर्या), पहेलिया (प्रहेलिका) मागधिया (मागधी भाषा में कविता करना), गाथा (गाथा छन्द में कविता का निर्माण, गोइय (गीतों का निर्माण), सिलोय (श्लोकों का निर्माण) ।

३-मूर्ति निर्माण कला :-

रूव (रूप)

४-संगीत-विज्ञान :-

नट्ट (नृत्य) गीय (संगीत) वाइय (वाद्य), सरगम (सरगम) पुक्खरगय (ढोल-वादन), ताल का ज्ञान ।

मृत्तिका-विज्ञान :-

दगमट्टिय ।

६-धूतक्रीड़ा तथा गृहक्रीड़ा :-

इसमें जुआ (धूत), जणवाय (अन्य प्रकार का जुआ), पासय (पासों से खेलना) अट्टावय (शतरंज), सुत्तखेड (कठपूतलियों का नाच), वत्थ (भौरें का खेल) तथा नालिका-खेड (अन्य-प्रकार के पासे का खेल)

७-स्वास्थ्य, श्रृंगार तथा भोजन विज्ञान :-

इसमें अन्नविहि (भोजन विज्ञान), पाण (पान), वत्थ (वस्त्र), विलेपन (श्रृंगार), सयण (शय्या विज्ञान) हिरण्ण जुत्ति (चांदी के आभूषणों का परिधान), सुवण्ण (सोने के आभूषणों का परिधान) आभरण विहि (अन्य प्रकार के आभूषणों को पहिनना) चुण्ण जुत्ति (श्रृंगार चूर्ण बनाना), तरुणी पडिकम्म (तरुण

स्त्रियों के शरीर को सुन्दर बनाने की विधि), पत्तच्छेत्ता (पत्रों से सुन्दर आभूषण बनाना) तथा कडच्छेत्ता (भाल का सजाना)

८-चिह्न विज्ञान (लक्षण) :-

इसमें चिह्नों के द्वारा स्त्री, पुरुष, घोडा, हाथी, गाय, मुर्गा, दासी, तलवार, रत्न तथा छत्र के भेद को जानना सम्मिलित था ।

९-शकुन विज्ञान :-

इसमें पक्षियों की बोली का ज्ञान आवश्यक था ।

१०-खगोल विद्या :-

ग्रहों के चलन (चार) तथा प्रतिचालन (पडिचार) का ज्ञान सम्मिलित था ।

११-रसायन शास्त्र :-

इसमें सोना (सुवण्ण-पाग) चांदी (हिरण्ण पाग) को बनाना तथा नकली धातुओं को असली हालत में परिवर्तित करना (सजीव) तथा असली धातु को नकली बनाना (निज्जीव) भी सम्मिलित था ।

१२-गृह-विज्ञान :-

इसमें मकान बनाना (वत्थु विज्जा) नगरों तथा जमीन को नापना (नगरारमण, खन्धार-मण) सम्मिलित थे ।

१३-युद्ध-विज्ञान :-

इसमें युद्ध (जुद्ध), कुस्ती (निजुद्ध), घोर युद्ध (जुद्धातिजुद्ध), दृष्टियुद्ध (दिट्टिजुद्ध), सुष्टि-युद्ध (सुट्टिजुद्ध), बाहुयुद्ध (बाहुजुद्ध), मल्लयुद्ध (लय), तीर-विज्ञान (इसत्थ), असि-विज्ञान (चरू-पवाय), धनुष-विज्ञान (धणुव्वेय), व्यूह-विज्ञान (वूह), प्रतिव्यूह-विज्ञान (पडिवूह), चक्रव्यूह

विज्ञान (चक्रव्यूह), गरुडव्यूह (गरुड) तथा शकट व्यूह (सगड) सम्मिलित था ।^१

विद्या के केन्द्र :-

राजधानियाँ, तीर्थस्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र थे । राजा तथा जमींदार लोग विद्या के पोषक तथा संरक्षक थे । समृद्ध राज्यों की अनेक राजधानियाँ जो कि विद्वानों को आकृष्ट करती हुई अंत में बड़े-बड़े विद्या के केन्द्रों के रूप में परिणत हुई जैनागमों में वर्णित हैं ।

बनारस विद्या का मुख्य केन्द्र था । संख-पुर का राजकुमार अगडदत्त वहाँ पर विद्याध्ययन के लिए गया था । वह अपने आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर घर लौटा ।^२

सावत्थी (श्रावस्ती) विद्या का केन्द्र था ।^३

पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था । रक्खिय (रक्षित) जब अपने नगर दशपुर में अपना अध्ययन नहीं कर सका तो वह उच्च शिक्षा के लिए पाटलिपुत्र गया ।^४

प्रतिष्ठान (पइट्टाण), दक्षिण में विद्या का केन्द्र था ।^५

साधुओं के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयों में भी विद्याध्ययन हुआ करता था ।

ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन कर सकते थे जिन्होंने उपाध्याय (उवज्जाय) के समीप रहकर प्राचीन शास्त्रों के अध्यापन की शिक्षा प्राप्त की हो । १२ अंगशास्त्रों के अध्ययन के

अतिरिक्त व्याकरण (सद्), तर्क (हेतुसत्थ), न्याय, कामशास्त्र तथा इन्द्रजाल-विद्या का अध्ययन भी होता था ।^६

प्रत्येक साधुओं के संघ चलते फिरते विद्यालय थे । सत्य तथा ज्ञान के परीक्षण के लिए प्रायः वादविवाद हुआ करते थे । वाद-विवाद करने के लिए बड़े-बड़े संघ (वादपुरिसा) हुआ करते थे, जहाँ जैन तथा अन्य साधु, खासकर बौद्ध साधु आकर सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर वाद-विवाद करते थे । यदि कोई व्यक्ति तर्क तथा न्याय में कमजोर पाया जाता था तो उसको किसी अन्य जगह जाकर और अधिक अध्ययन के लिए प्रयत्न करना पड़ता था । वहाँ से अध्ययन समाप्त कर वह लौटता और अपने विरोधी को पराजित कर धर्म का प्रचार करता था ।^७

उत्तराध्ययन टीका (३, ७२) में एक ऐसे हठी साधु का वर्णन है जो कि अपने पेट में लोहे के एक तख्ते को बांधकर तथा एक जामुन (जम्बु) की शाखा को लेकर घूमा करता था और कहा करता था कि मैं उस लोह-पट्टको अपने पेट से इसलिए बांधता हूँ कि कहीं ज्ञान की अधिकता से मेरा पेट न फट जाय और यह जम्बूवृक्ष की शाखा इस बात की द्योतक है कि कि समस्त जम्बूद्वीप में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो कि वादविवाद में उसका सामना कर सके ।

इस प्रकार आगम साहित्य में निरूपित जैन शिक्षाप्रणाली प्राचीन काल की एक सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित थी ।

१-लाइफ इन एंशियेन्ट इन्डिया एज डेपीक्टेड इन दि जैन कोनन्स-१, पृष्ठ-१७२ ।

२-उत्तराध्ययन टीका-४-पृ० ८३ ।

४- - वही - २, पृ० २२ अ ।

६- - वही भाष्य-४, ५१७९ ।

३- - वही - ८, पृ० १२४ ।

५-बृहत्कल्प टीका-४, पृ० ९० अ ।

७- - वही - ४, ५४२५, ५४२१ ।



गुजरात का सारस्वतनगर पाटन और हिन्दी

लेखक—डॉ. हरीश शुक्ल

७ बी—वनराज सोसायटी—पाटण (उ. गु.)



गुजरात विशेषतः जैन धर्म, संस्कृत एवं साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रदेश में जैन धर्म का अस्तित्व तो इतिहासातीत कालसे मिलता है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रधान गणधर पुंडरीक ने शत्रुञ्जय पर्वत से निवारण लाभ लिया था। २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का तो यह प्रधान विहार—क्षेत्र था। आग्रा के महाराज उग्रसेन की राजकुमारी राजुल से नेमिनाथ के विवाह की तैयारी करने, भौतिक—देह और संसारी भोगों से विरत हो गिरनार पर्वत पर समाधि लेने का तथा तीर्थंकर मुनिसुवत के आश्रम का भृगुकच्छ में होने के उल्लेख मिलते हैं।

तेरहवीं शती में वनराज चावडा, सोलंकी राजा शिलादित्य और वस्तुपाल तथा तेजपाल जैसे मंत्रियों ने जैन धर्म और साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। मुसलमान बादशाह भी जैन धर्म के प्रति काफी सहिष्णु रहे। सम्राट अकबर को प्रतिबोध देने जैनाचार्य हीरविजयसूरि, जिनचन्द्र तथा उपाध्याय भानुचन्द्र गुजरात से ही आगरा गये थे।

पाटन के शासक चावडा तथा सोलंकी मूलतः शैव धर्मी थे।

अतः यहाँ शैव धर्म एवं वैदिक—परंपरा का भी चरम विकास यहाँ के साहित्य, स्थापत्य आदि में देखने को मिल जाता है। अर्थात् यहाँ गुजरात में विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों, सम्प्रदायों एवं मान्यताओं को एक साथ फलने—फूलने एवं संवरने का योग्य सुअवसर प्राप्त होता रहा है।

आधुनिक भारतीय आर्य—भाषाओं में गुजराती और हिन्दी भाषा—साहित्य की इन विभिन्न कवियों के हाथों महती सेवा हुई है। इन भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन के लिए विशेषतः जैन ग्रंथ आधारभूत हैं।

इस भाषा अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और गुजराती का उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है।

पं. नाथूराम प्रेमीजी के इस अभिप्राय से भी यह बात स्पष्ट है—

“ऐसा जान पड़ता है कि प्राकृत का जब अपभ्रंश होना आरंभ हुआ और फिर उसमें भी परिवर्तन होने लगा तब उसका एक रूप गुजराती के साँचे में ढलने लगा और एक हिन्दी के साँचे में।

यही कारण है कि हम ई. १६वीं शताब्दी से जितने ही पहले की हिन्दी और गुजराती

देखते हैं, दोनों में उतना ही सादृश्य दिखलाई पड़ता है ।

यहाँ तक कि १३वीं, १४वीं शताब्दी की हिन्दी और गुजराती में एकता का भ्रम होने लगता है ।

इसी भाषा-साम्य के कारण वि. १७वीं शताब्दी के कवि मालदेव के 'भोजप्रबंध' और 'पुरन्दरकुमार चउपई', 'जो वास्तव में हिन्दी ग्रंथ हैं, गुजराती ग्रंथ माने जाते रहे हैं' ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि १६वीं-१७वीं शती तक भारत के पश्चिमी भू-भाग में बसनेवाले अधिकांश कवि अपभ्रंश मिश्रित प्रायः एक-सी भाषा का प्रयोग करते थे । हाँ, प्रदेश-विशेष की भाषा का इन पर प्रभाव अवश्य था । हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का विकास शौरसेनी के नागर-अपभ्रंश से हुआ है ।^१

यही धारणा है कि १६वीं-१७वीं शती तक इन तीनों भाषाओं में साधारण प्रान्तीय भेदको छोड़ विशेष अंतर नहीं दिखता ।

श्री मोतीलाल मेनारियाने शारंगधर, असाहृत, श्रीधर, शालिभद्रसूरि, विजयसेनसूरि, विनयचन्द्रसूरि आदि गुजराती-कवियों की गणना राजस्थानी कवियों में की है ।^२

तथा इन्ही कवियों और उनकी कृतियों की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहासकारोंने

हिन्दी में की है और उनकी भाषाको प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश कहा है ।

इस प्रकार एक ही सामान्य-साहित्य को हिन्दी, अथवा गुजराती सिद्ध करने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं ।

अलग हो जाने और उसके स्वतंत्र-रूप से विकसित हो जाने के पश्चात् भी गुजराती कवियों का हिन्दी के प्रति परम्परागत प्रेम बना रहा । यही कारण है कि वे स्व-भाषा के साथ-साथ हिन्दी में भी रचनाएँ करते रहे । हिन्दी की यह दीर्घकालीन परम्परा उसकी सर्वप्रियता और सार्वदेशिकता सूचित करती है ।

यहाँ तक कि इस परम्परा के निर्वाह हेतु अथवा अपने हिन्दी-प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए, कई गुजराती कवियोंने अपने गुजराती ग्रंथों में भी हिन्दी अवतरण उद्धृत किये हैं ।

उदाहरणार्थ नयसुन्दर के 'रूपचंद कुंवररास' तथा 'नल दमयन्तीरास', 'गिरनार उद्धार रास' 'सूरसुन्दरी रास', खंभात के जैन कवि ऋषभदास के 'कुमारपाल रास', 'श्रीहीरसूरि रास', 'हित-शिक्षा रास तथा समयसुन्दर के 'नलदमयन्ती रास' आदि दृश्य हैं ।

कनकसोम, साधुकीर्ति, गुणविनय, लब्धि-मुनि, रत्ननिधान आदिने भी जिनचन्द्रसूरि की प्रशस्ति में जो पद लिखे हैं, उनमें से कई पद 'खडीबोली' में हैं—

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, सप्तम हि. सा. स. कार्य विवरण भाग-२, पृ. ३.

२. हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा ।

बनी है सदगुरु की ठकुराई ।
श्रीजिनचन्द्रसूरि गुरुवंदो जो कुछ हो चतुराई ॥१॥
सकल सनूर हुकम सब मानति तै जिन्ह कु फुरमाई ।

अरू कछु दोष नहीं दल अंतरि,
तिमि सब ही मनि लाई ॥२॥
माणिकसूरि पाट महिमावरी लई जिन स्युं वितणाइ ।
झिगमिग ज्योति सदगुरु की जागी,
'साधुकीरति' सुखदाइ ॥३॥'

गुजराती के आदि-भक्तियुग के समर्थ
भक्त कवि नरसिंह मेहता की भक्तिमय विशाल
पद रचना में कहीं कहीं व्रजभाषा के पद भी
मिल जाते हैं :-

साखी-कुंजभवन खोजती प्रीत रे,
खोजत मदन गोपाल ।
प्राणनाथ पावे नहीं ताते
व्याकुल भई वृजबाल ॥१॥'

इनके अतिरिक्त भालण, भक्तकवि कृष्ण-
दास, प्रभास पाटन के कवि केशव, अहमदाबाद
के परमभक्त कवि दादूदयाल, दलपतिराम,
वंशीधर, अखाभगत, शामल भट्ट, पटेल देणीदास,
केवलराम नागर, आदितराम, ज्ञानीभक्त प्रीतम-
दास, किशनदास, त्रीकमदास वैष्णव, स्वामि-
नारायणी भक्तकवि प्रेमनंद-प्रेमसखी और
ब्रह्मानन्द, दयाराम, गौरीबाई, कवीश्वर दल-
पतराम आदि गुजराती भाषा के समर्थ कवियों ने
हिन्दी में भी काव्य रचना कर हिन्दी भाषा की
भी महत्वपूर्ण सेवा की है ।

गुजरात की प्राचीन राजधानी और सार-
स्वत नगरी पाटन भी इस राष्ट्रीय-सेवा से
बंधित कैसे रह सकती है ?

सारस्वत-नगर पाटन अपने पुरातन काल
से ही धर्म साहित्य के प्रमुख केन्द्र के रूप में
विशेष गौरवान्वित रहा है ।

प्राचीन समय में पाटन और धोलका गुज-
रात के महान विद्याधाम थे ।

यहाँ सहस्रलिंग-तालाब के किनारे एक
बहुत बड़ा विद्यानगर था ।

प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जिन
जिन विद्याओं का विकास हुआ था, उन सबकी
यहाँ पूर्ण शिक्षा दी जाती थी ।

इस समय पाटन में संस्कृत, प्राकृत, राज-
स्थानी, गुजराती तथा व्रजभाषा में भी विपुल
साहित्य सर्जना हुई ।

यह साहित्य सर्जना पाटन की अमूल्य
निधि है, जो आज विस्मृत होती चली जा
रही है ।

पाटन के भण्डारों की अलम्य ग्रंथ-रत्न
राशि जो कुल मिलाकर तीस हजार हस्त प्रतियों
के रूप में सुरक्षित है, वह आज इसी पाटन के
अतीत गौरव की मूक साक्षी बनी हुई है ।

पाटन को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर
भी पाटन के साहित्य और स्थापत्य में इसके
अनेक रूप बिखरे नजर आते हैं ।

१. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ. ९७.

२. रास सहस्रपदी, पद ११९.

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया ।

वनराज, सिद्धराज, कुमारपाल तथा कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य की प्रतिभा और व्यक्तित्व की झाँकी करानेवाले अनेक स्थल आज भी हैं; जिनसे उस समय के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कुशल राजनीतिज्ञ और विद्वान श्री के. एम. पाणिकरजी ने हेमचंद्राचार्य के संबंध में जो कहा है, वह योग्य ही है—

“ I Consider Hemchandracharya to be the greatest of Gujaratis ”

कच्छ-भूज की ब्रजभाषा पाठशाला के आचार्य कनककुशल भट्टार्क, कुंवरकुशल भट्टार्क आदि के ब्रज एवं राजस्थानी भाषा की कविताओं एवं पिंगल-ग्रंथों का एक संग्रह भी यहाँ के श्री हेमचंद्राचार्य जैन ज्ञान भण्डार में सुरक्षित है, जो विशेष महत्त्व का है।

कच्छ के महाराव श्री लखपतसिंह के समय में ब्रजभाषा में कविता करने की शिक्षा देनेवाली एक पाठशाला चलती थी, जिसमें भारत के कोने कोने से ब्रजभाषा कविता की शिक्षा पाने के लिए अनेक विद्यार्थी तथा जिज्ञासु विद्वान आते रहते थे।

गुजरात के प्रसिद्ध कवि दलपतराम भी इस पाठशाला के विद्यार्थी रह चुके हैं। पाटन के इस प्राचीन साहित्य के अध्ययन से अनेकानेक तथ्य बाहर आ रहे हैं।

गुजराती कवियों ने भी ब्रजभाषा में अथवा राजस्थानी हिन्दी में समर्थ रचनाएँ कर भारत-

व्यापी संत परंपरा, ज्ञानगरिमा एवं व्यावहारिकता का परिचय दिया है।

पाटण के ऐसे यशस्वी कवियों में सर्वप्रथम १५ वीं शती के भट्टारक, सकलकीर्ति और ब्रह्म जिनदास आते हैं।

ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, फिर भी इन्होंने लोकभाषा के माध्यम से राजस्थान और गुजरात में जैन साहित्य और संस्कृति के निर्माण में अपूर्व योग दिया।

ब्रह्म जिनदास ने तो ६० से भी अधिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी साहित्य की श्री-वृद्धि की।

इन रचनाओं में ‘रामसीता रास’, ‘श्रीपाल रास’, ‘यशोधर रास’, ‘भविष्यदत्त रास’, ‘परम-हंस रास’, ‘हरिवंश पुराण’, ‘आदिनाथ पुराण’ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनके ‘परमहंस रास’ से एक उदाहरण दृष्टव्य है—

“ पाषाण मांहि सोनो जिम होई,

गोरस मांहि जिम घृत होई ।

तिल सारे तैल बसे जिम भंग,

तिम शरीर आत्मा अभंग ॥ ”

भालण और विश्वनाथ जानी पाटण के ही कवि थे।

इनका समय ई. सन १५०० के करीब रहा है।

पाटण के घीवटा विस्तार में कवि भालण के नाम से ‘भालणनी खडकी’ आई हुई।

भालण ने भागवत के दशम स्कंध का भावानुवाद कडवाबद्ध आख्यान के रूप में किया है ।

भालण गुजराती आख्यान का पिता माना गया है । भालण ने कृष्णसंबंधी स्वतंत्र पदों की रचना की है ।

इनमें कुछ पद ब्रजभाषा के भी मिलते हैं ।

इसी समय (ई. सन् १५१२) के एक जैन कवि लावण्यसमय ने ऐतिहासिक प्रबंध काव्य 'विमल प्रबंध' की रचना की, जिसमें मुस्लिम पात्रों के द्वारा कहे गये वाक्यों में 'खडी-बोली' का स्वरूप देखने को मिलता है । सम्भवतः यह पाटन का पहला कवि है, जिसने खडीबोली का प्रयोग किया है—

हमकुं देवइ दोट वकाला,

मागई माल कोडि विच्यारा ।

हमके हाजारि नहीं असवारा,

नहीं कोई वलो झूझारा ॥७९॥

हमें सूरतान सभान समाने,

हमकुं नामुं कोटि ।

देखे बीबी लोक दटाउं,

मारि कराउं लोट ॥८०॥

इन पंक्तियों में कई भाषाओं के मिश्रण से भाषा का रूप विकृत सा लगता है, फिर भी 'खडीबोली' का स्वरूप सहज ही पकडा जा सकता है ।

द्वितीय हेमचन्द्राचार्य का विरुद धारण करनेवाले, न्यायविशारद उपाध्याय यशोविजयजी

का जन्म भी पाटण के पास कनौडा गाँव में हुआ था, तथा पाटन में अधिकांश समय रहने एवं साहित्यरचना करने के प्रमाण मिलते हैं ।

प्राप्त-रचनाओं के आधार पर इनका साहित्य-सृजन-काल वि. सं. १७१९ से १७४३ तक माना जा सकता है ।

इन्होंने कुल मिलाकर ३०० ग्रंथों की रचना की है, जिनमें ५-६ रचनाएँ तथा कुछ फुटकर पद हिन्दी भाषामें भी रचे हैं ।

उपाध्यायजी की रचनाएँ सरल भाषा में रसपूर्ण ढंग से लिखी होने पर सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त गरिष्ठ हैं ।

'आनन्दघन अष्टपदी' आनंदघनजी की स्तुति में लिखी गई रचना है । 'सुमति' सखी के साथ मस्ती में झूमते हुए, आत्मानुभवजन्य परम आनन्दमय अद्वैत दशा को प्राप्त अलौकिक तेज से दीपित योगीश्वर रूप आनंदघन को देखकर यशोविजयजी के मनमें जो भावोद्रेक हुआ उसे उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया—

मारग चलत-चलत गात, आनंदघन प्यारे,

रहत आनन्द भरपुर ।

ताको सरुप भूप त्रिहुं लोक थे न्यारो,

बरखत मुखका पर नूर ॥

सुमति सखि के संग नित-नित दोरत,

कबहुं न होत ही दूर ।

जशविजय कहे

सुनो आनन्दघन,

हम तुम मिले हजूर ॥

इसके अतिरिक्त 'दिवपट-चौरासी बोल' 'समाधिशतक', 'समताशतक', 'जसविलास' आदि इनकी सशक्त हिन्दी कृतियाँ हैं।

'जसविलास' में भक्ति, वैराग्य तथा विश्वप्रेम के १०० पद-गीत एवं स्तवन संकलित है। भक्तिरूपी निधि प्राप्त करने के पश्चात् भक्त के लिए हरि-हर और ब्रह्मा की निधियाँ भी तुच्छ लगने लगती हैं, उस रस के आगे अन्य सभी रस फीके लगने लगते हैं, खुले मैदान में माया, मोहरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो जाती है-

हम मगन भए प्रभु ध्यान में ।

बिसर गई दुविधा तन-मग की,

अचिरा सुत गुन ज्ञान में ॥

हरि-हर ब्रह्म पुरन्दर की ऋद्धि,

आवत नहीं कोउ मान में ।

चिदानन्द की मोज मची है,

समता रस के पान में ॥

चित्तदमन, इन्द्रियनिग्रह आदि को अन्य संतों की भाँति यशोविजयजी ने भी अपने काव्य का विषय बनाया है।

“जब लग मन आवे नहि ठाम ।

तब लग कष्ट-क्रिया सवि निष्फल

ज्यों गगने चित्राम ॥”

ज्ञान की शुष्कता ही नहीं, भक्ति की स्निग्धता भी इनके काव्य में है।

उनकी प्रेम-दिवानी आत्मा पिउकी रट लगाये बैठी है-

“विरह दीवानी फिरूँ हूँदती, पीउ पीउ करके पोकारेंगे ।”

यशोविजयजी की वाणी प्रभावोत्पादक, भाषा प्रसाद-गुण सम्पन्न, शैली सरसता से पूर्ण तथा छन्द शास्त्रीय राग-रागनियों में निबद्ध है।

पाटन के एक ऐसे ही यशस्वी कवि और जैनाचार्य हो गये हैं, जिसका नाम जिनहर्ष है।

कविवर जिनहर्ष की साहित्य-साधना का काल संवत् १७०४ से प्रारंभ होकर पचास वर्ष तक निरंतर चलता रहा।

इनकी रचनाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं सरस हैं।

जिनहर्ष ने जन्म से ही कवि-हृदय पाया था। गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी इन तीनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। जिनहर्ष का व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक तथा मोहक था। अपने सद्गुणों, नियमादि के प्रति कठोरता तथापि स्वभाव एवं जीवन की सरलता से लोगों के हृदयों को जीत लिया था।

कवि की दृष्टि में साधुवही है, जिसके हृदय में समता का भाव उत्पन्न हो गया हो। कविवर इसी समता-रस में डूबे रहते थे। कवि का व्यक्तित्व परम भक्त और उद्बोधक का था। वे प्रेममार्गी और नीतिज्ञ रहे हैं।

उन्होंने अपने समय की सभी काव्य शैलियों में रचनाएँ प्रस्तुत कर साहित्य-भण्डार को भरा है तथा अपने को सच्चे अर्थ में सारस्वत सिद्ध किया है।

कवि की कृतियों की एक लम्बी सूची 'जिनहर्ष ग्रंथावली' में श्री अगरचन्द नाहटाजी

ने दी है। यहाँ उनकी प्रमुख कृतियों का सामान्य परिचय देना संगत होगा।

“नन्द बहोत्तरी-विरोचन मेहता वार्ता” रचना में राजा नन्द तथा मंत्री विरोचन की रसप्रद कथा दी गई है।

राजस्थानी हिन्दी में लिखित यह ७२ दोहों की रचना है—

सूरवीर आरण अटल, अरियण कंद निकंद
राजत हैं राजा तहां, नन्दराई आनन्द ॥

‘जसराज बावनी’ कवि की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है।

इस कृति में निर्गुणी संतों की भाँति “क्षौरशुं सीस मुडावत हैं केई, लम्ब जटा सिर केइ रहावै।” कह कर कवि बाह्याडम्बर का विरोध करता है और अन्त में “ग्यान बिना शिव पंथ न पावै” कह कर ज्ञान की प्रतिष्ठा करता है।

संगीतात्मक गेय पदों में रचित कवि की तीसरी प्रसिद्ध रचना है—‘चौवीसी’।

तीर्थकरों की स्तुतियों के माध्यम से यहाँ कवि के भक्त-हृदय के सहज ही दर्शन हो जाते हैं—

साहिब मोरा हो अब तो माहिर करो
आरति मेरी दूरि करो।

खाना जाद गुलाम जाणि कै,
मुझ ऊपरि हित प्रीति धरौ ॥

‘उपदेश छत्तीसी’ रचना में अन्य भक्त-कवियों की भाँति संसार की माया-मोह आदि

को छोड़कर भगवान के चरणकमलों में समर्पित होने का उपदेश दिया है।

“दोहा मातृका बावनी” में जीवनोपयोगी सद्धर्म की अभिव्यक्ति हुई है—

मन ते ममता दूरि कर, समता धर चित्त मांहि।
रमता राम पिछाण कै, शिवपुर लहै क्युं नाहि ॥

कवि जिनहर्षने नेमिनाथ और राजीमती की प्रसिद्ध कथा को लेकर दो बारहमासों की रचना की है।

इन बारह मासों में प्रेम और विरह का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है।

इनकी अन्य प्रमुख रचनाओं में ‘सिद्धचक्र स्तवन’, ‘पार्श्वनाथ नीसाणी’, ‘ऋषिदत्ता चौपई’ तथा ‘मंगल गीत’ महत्त्वपूर्ण हैं।

जिनहर्ष की भाषा प्रसाद-गुणसम्पन्न, परिमार्जित एवं सुललित है। माधुर्य और रसात्मकता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं।

कवि द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा तो और भी मधुर और सजीव है। साहित्यिकता कहीं स्खलित नहीं होने पाई है।

‘रास’ संज्ञक काव्यों के साथ कवि ने अनेक काव्यात्मक शैलियों का प्रयोग भी किया है।

यद्यपि धर्म, आध्यात्मिकता तथा नैतिकता इन कवियों की मूल प्रेरणा रही हैं, तथापि इनकी रचनाओं में न तो धार्मिक संकीर्णता है, न उनमें नीरसता, और शुष्कता ही।

इनमें काव्य—रस का समुचित परिपाक है—
काव्य—रस और अध्यात्म—रस का अपूर्व समन्वय
देखने को मिलता है। इस कविता की मूल
प्रकृति शांत रस की रही है।

इस प्रकार गुजराती कवियों का हिन्दी में
साहित्य रचना के प्रति परम्परागत मोह रहा है।
प्रान्तीयता को लेकर भाषा के झगड़े इनमें कभी
नहीं उठे, उठे भी तो लोकभाषा को लेकर ही।

हिन्दी में लोकभाषा और लोकजीवन के
सभी गुण विद्यमान थे। अतः इन कवियोंने इसे
सहर्ष अपनाया।

इनकी हिन्दी भाषामें शिक्षा और प्रान्तीय
प्रभावों के कारण थोड़ा अन्तर अवश्य आया,
किन्तु भाषा के एक सामान्य रूप अथवा उसकी
एकरूपता में कोई विकृति न आने पाई। गाँधी
जीने हिन्दी के जिस रूप की कल्पना की थी,
इन कवियों की रचनाओं में वह उपलब्ध है।

आज तो हिन्दी का राष्ट्रभाषा की दृष्टि
से ज्ञान सुलभ बना है, अतः उसके प्रति आदर
स्वाभाविक है।

आजकी पीढी के अनेक गुजराती कवि
दूलाभाई काग, सुन्दरम्, राजेन्द्र शाह और
गद्य लेखक इन्द्र वसावडा तथा असंख्य अध्यापक

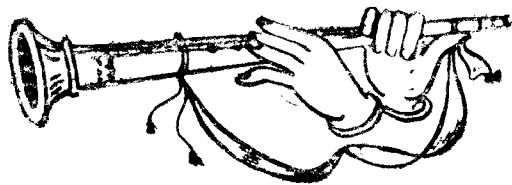
मित्रोंने हिन्दीमें अपनी रचनाएँ लिखने का प्रयास
किया है।

अन्वेषण, सम्पादन, निबंध लेखन तथा
अन्यान्य रचना—प्रकारों की दृष्टि से आज की
पीढी के पढ़नियों का भी हिन्दी—प्रेम किसी हद
कम नहीं।

ऐसे आज के पाटन के हिन्दी—सेवी
विद्वानों में गो. पा. द्वारकादास परीख, डो.
भोगीलाल सांडेसरा, डॉ. हरगोविन्दभाई सी.
नायक, प्रो. कानजीभाई एम. पटेल, विष्णु कलाल
'बादल', पूनमभाई ए. स्वामी आदि के नाम
गिनाये जा सकते हैं।

इस प्रकार गुजरात और विशेषतः पाटनके
साहित्यकारोंने भी १५वीं शती से आज तक
प्राचीन हिन्दी—राजस्थानी, ब्रजभाषा, खडीबोली
आदि भाषाओं में अनेक गौरव—ग्रंथोंकी रचना
की है।

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी, इन अहिन्दी-
भाषी साहित्यकारों पर बलात् थोपी या लादी
नहीं गई थी, उन्होंने उसे स्वयं ही श्रद्धा और
प्रेम से अपनाया था और अपनी अभिव्यक्तिका
माध्यम बनाया था।





देवलोक की सृष्टि

(विज्ञान द्वारा प्रमाणित)

[लेखक जवाहरचन्द्र पटनी एम. ए. (हिन्दी एवं अंग्रेजी)

उपप्राचार्य—श्री पार्श्वनाथ उम्भेद कॉलेज, फालना]



मेरु पर्वत पर इन्द्र—इन्द्राणी सहित देवकुल द्वारा भगवान महावीर का जन्मोत्सव मनाने का प्रसंग एक ओर भक्तिवर्धक है तो दूसरी ओर विज्ञान सभ्य भी है ।

क्योंकि आधुनिक—विज्ञान ने अपनी खोज से यह सिद्ध कर दिया है कि “इस विराट् ब्रह्मांड में असंख्य लोक हैं ।”

आधुनिक खगोल—विज्ञान के अनुसंधान ने अनेक ग्रहों तथा उपग्रहों का पता लगाया है जिससे सहज ही विश्वास हो जाता है कि उनमें से कतिपय—(जिनकी संख्या करोड़ों में हैं)—ग्रहों एवं उपग्रहों पर जीव सृष्टि है ।

वैज्ञानिकों ने रेडियो, टेलिस्कोप और स्पेक्ट्रोस्कोप से विश्व के अन्तरिक्षों का अवलोकन किया है, वे विराट् ब्रह्मांड को स्वीकार करते हैं ।

विराट् विश्व में देवलोक आदि भी हैं—इसमें अब कोई सन्देह नहीं रहा है ।

आइये ! ब्रह्मांड की विराटता के दर्शन वैज्ञानिकों के शब्दों में करें—“ रात्रि के समय हम जित स्वर्गगंगा को देखते हैं । उसमें सूर्य जैसे अरबों—तारों सूर्य हैं और हमारे सूर्य के

आसपास जिस तरह हमारी पृथ्वी और इतर ग्रह, चक्कर काटते हैं, वैसे इन इतर तारों के सूर्यों के आसपास भी चक्कर काटते ग्रह एवं उपग्रह होंगे । तारक विश्व में हमारे इस सूर्य की भाँति करोड़ों सूर्य होते हैं । करोड़ों सूर्य जिनमें आये हों—ऐसे तारक विश्व भी सिर्फ एक दो ही नहीं हैं—ऐसे तो करोड़ों तारक विश्व आकाश में बिखरे हुए हैं”—ऐसा आधुनिक खगोल—विज्ञान कहता है ।

शास्त्रों ने विशाल देवविमान, देवलोक और द्वीपों के जिन, अति विशालकाय क्षेत्र—विस्तारों का निर्देश किया है, उनको कुछ लोग चाहें भ्रातिवश कपोल—कल्पित क्यों न मानें, परन्तु आधुनिक खगोल—विज्ञान ने अनेक तारक लोकों के विस्तृत क्षेत्रों के जो माप लिये हैं, वे विश्वसनीय हैं, क्योंकि उनका निश्चय भूमिति, त्रिकोणमिति, रेडियेशन आदि द्वारा मान्य सिद्धान्त के आधार पर किया गया है ।

आधुनिक खगोल—विज्ञान के अनुसार हमारी सूर्यमाला में आये गुरुग्रह का व्यास ८०,००० मील है । हमारी पृथ्वी जैसे १३०० ग्रह इस एक ग्रह में समा जाय, यह उतना बड़ा है ।

सूर्य का व्यास आठ करोड़ मील है और वृश्चिक में आये हुए पारिजात नामक तारे का व्यास ३९ करोड़ मील से अधिक है। इसका आकार इतना बड़ा है कि तीन करोड़ सूर्यों को वह अपने में समेट सकता है।

ब्रह्मांड नामक तारामण्डल का एक तारा 'एप्सिलोन' तीन अरब पचहत्तर करोड़ किलोमीटर व्यासवाला है।

हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह माप उसके क्षेत्रफल का नहीं, अपितु व्यास का है।

वैज्ञानिकों ने एक अति विशालकाय तारे का पता लगाया है, उसका नाम है—बी ३८१ वृश्चिक। इस तारे का व्यास सूर्य—व्यास से ३००० गुना है। हमारी पृथ्वी का व्यास केवल आठ हजार मील है। इस तुलना से इन तारों के विराट आकार एवं क्षेत्रफल का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

खगोल—विज्ञान की आधुनिक खोजें यह प्रमाणित करती हैं कि—विराट—ब्रह्माण्ड में ऐसे करोड़ों ग्रह एवं उपग्रह विद्यमान हैं, जहाँ जीवन है; जहाँ विकसित सभ्यताएँ हैं। इस विराट विश्व के असंख्य ग्रह—उपग्रहों में अनेक चन्द्रलोक व सूर्यलोक हैं—इसमें कोई शक नहीं है।

आइये ! वर्तमान विज्ञान जगत् की उन उपलब्धियाँ का अवलोकन करें जो स्पष्ट बताती हैं कि विराट ब्रह्माण्ड में करोड़ों ग्रहों पर जीवन एवं विकसित सभ्यताएँ हैं।

कुछ समय पहले 'मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी' ने एक रिपोर्ट दी थी कि—

शनि के दस उपग्रहों में सबसे बड़े उपग्रह 'टाइटन' पर जीवन की सम्भावना है।

इसी तरह बृहस्पति के उपग्रहों के बारे में भी यह सोचा जा रहा है।

बृहस्पति के १२ उपग्रहों में बड़े हैं—आइओ, यरोपा, गैनीमीड और कैलिस्टो; सबसे छोटा उपग्रह है—एमाथियाइन।

वैज्ञानिक मानते हैं कि इन उपग्रहों में से कुछ में जीवन की पूर्ण संभावना है।

सन् १९६१ में—पश्चिम वर्जीनिया के 'ग्रीन बैक नेशनल रेडियो आब्जर्वेटरी' में एक सम्मेलन हुआ था।

यहाँ सभी वैज्ञानिक एक 'ग्रीन बैक फार्मूला' पर एकमत हो गये कि केवल अपनी आकाशगंगा में ही पाँच करोड़ सभ्यताएँ मौजूद हैं, जो आपसी सम्पर्क के लिए कोशिश कर रही हैं।

कोलंबिया विश्वविद्यालय के डॉ. लियोड मोज कहना है कि—

अपनी आकाशगंगा में १०० अरब तारे हैं, जिनमें २० करोड़ तारे अपने सूर्य के समान हैं और ६० करोड़ ग्रहों पर सभ्य जीवन है।

प्रसिद्ध मानव—विज्ञानशास्त्री आशले मौंटेगू ने विश्वासपूर्वक कहा है कि—

'दूसरे ग्रहों के जीव निश्चय ही हम से ज्यादा विकसित और बुद्धिमान हैं।'

प्रख्यात, कथाकार श्री एच. जी. वेल्स ने अपनी पुस्तक 'दि वार ऑफ दि वर्ल्ड्स' में यह बताया है कि—

‘पृथ्वी से परे दूसरे ग्रहों—उपग्रहों पर जीवन है। वहाँ विकसित सभ्यता विद्यमान है।’

विज्ञान की अन्तरिक्ष-जगत् की विस्मयकारी खोजों ने आधुनिक तर्कवादी मनुष्य को यह मानने के लिए विवश कर दिया है कि—

सृष्टि अति विशाल एवं विराट् है तथा सुदूर ब्रह्मांड में जीवनवाले अनेकानेक ग्रह—उपग्रह हैं जिनमें विकसित सभ्यताएँ हैं।

अमरिका के प्रख्यात खगोल-वैज्ञानिक डॉ. कार्लसागान अन्य ग्रहों पर जीवन का अस्तित्व अनिवार्य मानते हैं।

उनकी यह मान्यता अनेक वैज्ञानिक-तथ्यों पर आधारित है।

श्रीलंका में जन्मे अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ. सीरिल ने अनेक तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि—

“दूसरे ग्रहों एवं उपग्रहों पर जीवन का अस्तित्व है।”

अब जरा परामनोविज्ञान-वेत्ताओं की उन रिपोर्टों के कुछ पृष्ठों को पलटें, जिनमें देवलोक के अद्भुत वर्णन अंकित है।

ये वर्णन बताते हैं कि—

देवलोक की कल्पना मनगढ़ंत नहीं है अपितु पूर्ण सत्य है।

डॉ. एलेक्झेण्डर केनन ने अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक ‘दि पोवर विद्हीन’ (The Power Within) में एक ऐसी महिला का वर्णन किया है—

जो अपने पूर्व जन्म में देवयोनि में जन्मी थी।

उस महिला का उक्त पुस्तक में इस प्रकार वर्णन मिलता है :

“शुक-ग्रह पर जीवन की कला सीखना ही मुख्य प्रवृत्ति है। वहाँ पृथ्वी के समान कोई धंधा—रोजगार नहीं है। वहाँ रात—दिन नहीं हैं, पर सदा अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश रहता है—इतना अधिक तेजस्वी कि अधिक से अधिक प्रकाशित दिन में भी हमारी पृथ्वी ‘अन्धकाराच्छन्न गृह’ के समान लगती है।”

1. I asked her what went on venus, and she replied that instudion in the art of living was the main activity, also she indicated that work as we know it on Earth did not exist on that planet. The medium informed us that the light on Venus was constant and extremely brilliant, so brilliant, in fact, that our Earth was described as the dark planet even on its brilliant day.

—‘The Power within,’ page-180

देवलोक के अस्तित्व की एक और साक्षी डॉ. केनन ने अपनी पुस्तक में इस प्रकार प्रस्तुत की है—

अमरिका के प्युब्लो-कोलोरडो की एक गृहिणी रथ सिमोन्स ने ‘एज रिप्रेशन’ के प्रयोग के समय अपने पूर्व जन्म का व्यौरा देते हुए कहा कि—

मैं ‘एस्ट्रल वर्ल्ड’ अर्थात् देवलोक में हूँ।

यहां हमें खाने की या सोने की आवश्यकता नहीं होती और थकान भी नहीं लगती।

पुस्तक में जो संवाद दिया गया है वह प्रस्तुत है :

‘वहाँ तुम अपना समय कैसे गुजारती थी ?’

‘बस मात्र अवलोकन करना ।’

‘कुछ काम नहीं तो, तुम को समय लम्बा नहीं लगता ।’

‘समय बीतता है, ऐसा यहाँ हमें लगता ही नहीं । तुम्हारे जैसे दिन—रात यहाँ नहीं है ।’^२

2. ‘Did you ever have to eat anything ?’

‘No.’

‘You never had to eat ?’

‘No, never, ate, never sleep, never get tired there.’

—‘A Search for BRIDEY’
page-120

‘तुम वहाँ थी तब पृथ्वी पर त्रिभान के घर पर क्या हो रहा है, तुम जानती थी ?’

‘मेरा उस ओर लक्ष्य नहीं था । हम चाहें तो जान सकते हैं ।’

‘इच्छामात्र से—वहाँ तुम सिर्फ विचार करो और सब देख पाते हो ।’

‘वहाँ देवलोक में (एस्ट्रल वर्ल्ड) में, वृद्धावस्था रोग, मृत्यु जैसा कुछ है क्या ?’

‘वहाँ मृत्यु नहीं है । तुम वहाँ हो तो मात्र वहाँ से अन्तर्धान हो जाओगे—दूसरे जीवन में चले जाओगे, बस वहाँ मृत्यु नहीं है ।’

‘और कोई रोग ?’

‘ना’ ।^३

3. ‘Was there anything, were there anything in the astral world such as death, disease or old age ?’

‘There was no death, there was just a passing off...you passed from that existence to another existence. That’s all, there was no death.’

Any disease ?

No.

— A Search For BRIDEY
page-151

ये वर्णन न तो शास्त्रों में से लिये गये हैं और न किसी साहित्यकार की कल्पना की उद्धान है । ये तथ्य आधुनिक परामनोविज्ञान के प्रयोगों की रिपोर्टों में आलेखित हैं ।

देवलोक के विषय में शास्त्र मत है :

वहाँ रात—दिन नहीं है । नित्य अत्यन्त तेजोमय प्रकाश चमकता है । प्रत्येक देव को अमुक मर्यादा में अतीन्द्रिय ज्ञान होता है जिस से वह भूत—भविष्य में दृष्टिक्षेप कर सकता है ।

देवों को आहार—निद्रा की आवश्यकता नहीं होती, आहार की इच्छा होने पर बिना आहार लिये ही तृप्ति हो जाती है ।

आयु पूर्ण होने से पूर्व उन्हें यह ज्ञान हो जाता है कि यहाँ से अलविदा लेनी पड़ेगी । देवों को हमारी तरह नौ महिने गर्भवास में रहना नहीं पड़ता और न उन्हें हमारी तरह बाल्यावस्था से यौवनावस्था में जाना पड़ता है; परन्तु वहाँ उत्पन्न होते ही युवा शरीर प्राप्त हो जाता है ।

आधुनिक परामनोविज्ञान के अनुसार ये तथ्य पूर्णतया मेल खाते हैं ।

‘उर्वशी’ महाकाव्य में देवलोक एवं देवशरीर का वर्णन ‘मेनका—रम्भा संवाद’ में सरस

शैली में हुआ है। मेनका रम्भा को पूछती है :
“कौन भेद है, क्या अन्तर है धरती और गगनमें,
उठता है यह प्रश्न कभी रम्भे ! तेरे भी मनमें।”

अप्सरा रम्भा उत्तर देती है :

“अमिट, स्निग्ध निर्धूम

शिखा सी देवों की काया है ।

मर्त्यलोक की सुन्दरता तो

क्षण भर की माया है ॥”^४

यह वर्णन भी देवलोक का सही चित्र प्रस्तुत करता है ।

इस तरह आधुनिक विज्ञान, शास्त्र एवं साहित्य देवलोक के विषय में एकमत है ।

देवलोक में उत्पन्न होते ही वयस्क युवा शरीर की प्राप्ति होती है ।

इसका एक दृष्टान्त अमेरिका में जन्मे परामनोविज्ञान के प्रोफेसर श्री अरविंद जानी ने दिया है ।

श्री सुरेश दलाल ने ‘संदेश’ गुजराती पत्र में ता. २ नवम्बर १९६९ के अंक में इसे प्रस्तुत किया था । दृष्टान्त इस प्रकार है :

“एक महिला ने बताया : “मुझे इस समय मेरी मृत्यु की सुबह याद आती है । दस बजे थे । मेरे माता—पिता—सारा कुटुम्ब मेरे विस्तर के चारों ओर था । मेरी छाती में अमद्य वेदना थी । लाख—लाख बिच्छू एक साथ काटते हों,

ऐसी भयंकर पीडा होने लगी ।” यह दृश्य मृत्युलोक का है ।

देवरूप में जन्म—अचानक मेरी सारी वेदना दूर हो गई । मैं एक सुन्दर उद्यान में घने पेड़ की छाया में सोई हुई थी । मैंने आँखें खोली । मेरी दृष्टि मेरे शरीर पर पड़ी । मेरा शरीर हल्का, तेजस्वी और सुन्दर था । दूर से एक मनुष्य मेरी ओर आ रहा था । चांदनी जैसे सफेद वस्त्र उसने पहने थे ।

‘चलो, उठो, मैं तुमको सब बताऊँ ।’ मेरे समीप आकर उसने कहा । हम लोग चलने लगे । सामने से सुन्दर स्त्री—पुरुषों का एक समूह आ रहा था । उनमें से कुछ के हाथों में वाद्ययंत्र थे । कुछ गा रहे थे; कुछ लोगों के हाथों में अत्यन्त सुगंधित फूलोंवाली डालियों थीं ।

‘ये सब कौन हैं?’ मैंने इस व्यक्ति से पूछा ।

‘यक्ष, किन्नर, गन्धर्व ।’

‘कहाँ जाते?’

‘आनन्द—यात्रा पर ।’

‘मैं उनके साथ जा सकती हूँ?’

‘हाँ ।’

मैं उनके साथ साथ आनन्द—यात्रा में सम्मिलित हुई । सम्मिलित होते ही मैं पृथ्वी पर की सब चीजें भूल गई ।”

४. ‘उर्वशी’ महाकाव्य के रचयिता राष्ट्रकवि रामधारीसिंह ‘दिनकर’ हैं ।

इस काव्यकृति पर महाकवि को एक लाख रूपयों का पुरस्कार ‘ज्ञानपीठ’ द्वारा प्राप्त हुआ है ।

५. ‘विज्ञान और अध्यात्म’ : चौथा : अध्याय आधुनिक खगोल और परामनोविज्ञान द्वारा निर्दिष्ट “परलोक की झांकी” पृष्ठ—५३

उपरोक्त वर्णन जैन शास्त्रों में वर्णित देवलोक के समान है।

परामनोविज्ञान की इन खोजों ने देवलोक आदि लोकों के प्रति विश्वास उत्पन्न कर दिया है।

श्री कल्पसूत्र में यह वर्णन है कि—

श्री देवेन्द्र ने बाल प्रभु को मेरु पर्वत पर ले जाता हुआ अपने पाँच रूप बनाये थे—यह देवों के लिए सहज है।

देव इच्छानुसार मनोवांछित रूप धारण कर सकते हैं।

माता त्रिशला को अवस्वापिनी नींद में सुलाना विज्ञान की दृष्टि में सामान्य बात हैं।

क्लोरोफार्म जैसी औषधियों के सूँघने से तुरन्त बेसुधी आती है।

चिकित्सा विज्ञान में ऐसी औषधियों का प्रयोग सामान्य बात है।

श्री जिनेश्वरदेव भाषित एवं श्री गणधर रचित शास्त्रों में जो वर्णन है, वह पूर्ण सत्य है। विज्ञान की ज्यों—ज्यों खोजें हो रही हैं त्यों—त्यों जिन बाणी का सत्य उजागर होता जा रहा है।

वनस्पति आदि में जीवन होता है।

जैन धर्म की इस मान्यता पर पाश्चात्य, विद्वानों ने शंका की थी। किन्तु भारत के प्रसिद्ध

वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु ने 'क्रेस्कोग्राफ' (Crescograph) यंत्र का आविष्कार किया।

यह यंत्र पेड़—पौधों एवं वनस्पति के विकास एवं सुख-दुःख को अनुभूति का बोध कराते है। इस आविष्कार ने आधुनिक वैज्ञानिकों को आश्चर्यविभूत कर दिया था।

मानव की उपरोक्त वर्णित सुंदर ग्रहों एवं उपग्रहों में पहुंचने की चिरकालीन अभिलाषा हैं। वैज्ञानिकों ने अपने अनुसंधानों द्वारा यह बताया है कि—

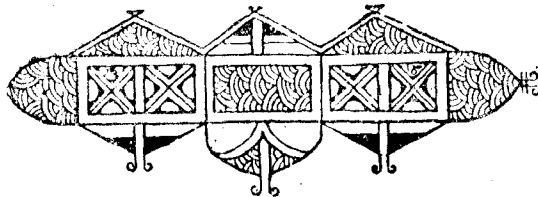
यदि मनुष्य ५ मील प्रति सेकण्ड की गति-वाले रॉकेट में बैठकर जाय, तो भी सब से करीब के तारे 'प्राक्सिमा सेंटारी' तक पहुंचने में उसे ८०,००० (अस्सी हजार) साल लगेंगे।

इसी से मानव का गर्व खर्व हो जाता है।

अतः मनुष्य को चाहिये कि प्राणीमात्र के प्रति प्रेम भाव रखता हुआ सदाचार के शिवपथ पर चले और इहलोक और परलोक को सुधारे।

वह वैज्ञानिक खोजों द्वारा प्राणीमात्र के कल्याण की भावना करें।

॥ शिवमस्तु सर्वजगतः ॥





पातंजल योगशास्त्र के अनुसार भुवनों का स्वरूप

—डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी,
नईदिल्ली



योगसूत्र द्वारा भुवनज्ञान का संकेत

महर्षि पातंजलि ने योग—दर्शन में 'भुवन—ज्ञानं सूर्ये संयमात्' (३।२६) इस सूत्र की रचना करके अभिव्यक्त किया है कि—“सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों—लोकों का ज्ञान प्राप्त होता है।”

इस सूत्र से पूर्व पातंजलिने सात्त्विक—प्रकाश का आलम्बन लेकर सूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट ज्ञानरूप सिद्धियों का संकेत किया है और उससे परमाणु, महत्त्व आदि सूक्ष्म पदार्थों का, एवं सागर के अन्तराल में निहित रत्नादि, भूमि के गर्भ में छिपे खनिजादि तथा दूर देश सुमेरु—पर्वत के दूसरी ओर विद्यमान रसायन, औषधि आदि के ज्ञान की बात सिद्ध होती है।

अतः यह सूत्र भौतिक—प्रकाश के विषय में संयम करने का संकेत देकर उससे भुवन—ज्ञान—सिद्धिरूप फल की प्राप्ति बतलाती है।

टीकाकारों द्वारा पल्लवित भुवन—ज्ञान

'पातंजल—योगदर्शन' एक सूत्र ग्रन्थ है। अतः इसके सूत्रों की व्याख्या अत्यावश्यक मानी गई। आज तक संस्कृत भाषा में इस पर प्रायः २० टीकाएँ प्राप्त हैं। हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी

तथा अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं में इस ग्रन्थ के आधार पर पर्याप्त चिन्तन हुआ है और हो रहा है।

व्याख्याकारों में—व्यासदेव, वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु, नागेशभद्र, हरिहरानन्द आरण्यक तथा नारायणतीर्थ आदि ने 'भुवनज्ञान' के बारे में विस्तार से प्रतिपादन किया है।

वैसे उपर्युक्त व्याख्याकारों के विचारों में भुवनज्ञान—सम्बन्धी विचार प्रायः समान ही हैं। तथापि 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका'—व्याख्या के रचयिता श्री नारायणतीर्थ ने अपने पूर्ववर्ती व्यास, वाचस्पति आदि के भुवन—ज्ञान सम्बन्धी विचारों को पर्याप्त विस्तार के साथ आगे बढ़ाया है। यही कारण है कि प्रस्तुत लेख के शीर्षक में 'योगशास्त्र के अनुसार' ऐसा लिखा गया है। वैसे भुवनों का वर्णन प्रायः पुराणों में ही अधिक उपलब्ध होता है।

योगसिद्धान्त चन्द्रिका टीका में निर्दिष्ट भुवनज्ञान

टीकाकार नारायणतीर्थ ने उपर्युक्त सूत्र के सन्दर्भ में 'भुवन' शब्द का तात्पर्य लोक माना है। शास्त्रों में ब्रह्माण्ड शब्द के साथ महा शब्द

जोड़कर 'महाब्रह्माण्ड' को अनेक ब्रह्माण्डों का आधार माना है। अतः इस महाब्रह्माण्ड में अनेक संक्षिप्त ब्रह्माण्ड हैं और एक ब्रह्माण्ड चौदह भुवनों की समष्टि से निर्मित है।

इस दृष्टि से भूलोक को केन्द्र मानकर 'भूरादिसत्यान्तानि उपरितनानि' कहकर उसके ऊपर छह लोक माने गये हैं।

इनके नाम हैं—(१) भुवर्लोक, (२) स्वर्लोक, (३) महर्लोक, (४) जनलोक, (५) तपोलोक एवं (६) सत्यलोक।

ये ऊपर स्थित होने से 'ऊर्ध्वलोक' भी कहे जाते हैं और एक दूसरे से नीचे होने से वे सत्यलोक के नीचे वाले लोक 'अधोलोक' भी माने जा सकते हैं।

'अतलादिपातालान्तान्यधस्तनानि' के अनुसार भूलोक से नीचे सात लोक हैं जिनके नाम हैं—(१) अतललोक, (२) वितललोक, (३) सुतललोक, (४) तलातललोक, (५) महातललोक, (६) रसातललोक तथा (७) पाताललोक।^१ ये सातों अधोलोक हैं।

इनमें भी पाताललोक से ऊर्ध्ववर्ती लोक 'ऊर्ध्वलोक' कहे जा सकते हैं।

इन पाताललोकों के ऊपर जलावरण है। इनके ऊपर तथा भूमि के नीचे तामिस्र, अन्ध-तामिस्र, रौरव, कुम्भीपाक, मूलासिपत्र, बनसूकर,

मुखान्धकूप, कृमिभोजन, मदशत, प्रभूमिवज्र, कण्टक, शाल्मलि, वैतरणी, प्रमोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्षण, सारमेयादन, मर्दाचिरय, पानक्षार, कर्दम, रक्षोगण, भोजनशूल, प्रोतदन्द, शूकावट, निरोधन, पर्यावर्तन, सूचीमुख आदि। इन सब से मिलकर एक ब्रह्माण्डावयव का स्वरूप बनता है।

इसी प्रकार के असंख्य ब्रह्माण्डावयव महाब्रह्माण्ड में समाविष्ट हैं।^१ उक्त ब्रह्माण्डावयव का महाब्रह्माण्ड में उतना ही स्थान है जितना कि आकाश में जुगनू का।

ब्रह्माण्डमध्ये संक्षिप्तं ब्रह्माण्डं च प्रधानस्यावयवो यथाकाशे स्वद्योतः। (यो. सि. चं. पृ. १२८)

भूलोक तथा उसके द्वीपादि

उपर्युक्त ब्रह्माण्डावयव में स्थित लोकों में भूलोक की अपनी विशिष्टता है। इसमें सात द्वीप हैं। मत्स्य एवं वायु आदि पुराणों में 'द्विरापत्वात् स्मृतो द्वीपः' (म. १२३।३५) (वायु. ४९।१३२) कह कर स्पष्ट किया गया है कि—'जिसके दोनों ओर जल हो वह द्वीप होता है।' किन्तु इन्हीं पुराणों में अन्यत्र 'द्वीपस्य मण्डलीभावात्' कह कर द्वीप को मण्डलाकार भी बताया है।

सात द्वीप क्रमशः—'जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि,

१-अन्यत्र भी पृथ्वी के नीचे चौदह लोकों का वर्णन मिलता है। यथा सबसे नीचे (१) अवीचि, (२) महाकल, (३) अम्बरीष, (४) रौरव, (५) महारौरव, (६) महासूत्र, (७) अन्धतामिस्र आदि। कहीं पुराणों में २८ तरह भी बनाये गये हैं वे ही ऊपर लिखे हैं।

२-अष्टानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च। ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटि शतानि च ॥ (विष्णुपुराण)

कुश, क्रौंच, शाक तथा पुष्कर' नाम वाले हैं। प्रत्येक द्वीप एक-एक समुद्र से आवेष्टित है तथा वे दोनों वलयाकार हैं।

वलयाकार वाले इन द्वीपों में 'जम्बूद्वीप' की स्थापना मध्य में है।

स्वयं एक लक्ष योजन विस्तृत और दो लक्ष योजन विस्तृत लवणसमुद्र से वेष्टित इस जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु-सुमेरु पर्वत है।

सुमेरु पर्वत की ऊँचाई ८४ हजार योजन है। यह शिरोभाग में ३२ हजार योजन तथा मूल से १६ हजार योजन विस्तारवाला है।

सुमेरु के चार शिखर हैं—पूर्व में रजतमय, दक्षिण में वैदूर्यमणिमय, पश्चिम में स्फटिक का एवं और उत्तर में हेममणिमय हैं।

सुमेरु की उत्तर दिशा में तीन पर्वत हैं नील, श्वेत तथा शृंगवान्। इन तीनों का विस्तार दो-दो सहस्र योजन है। वैदूर्यमणि की कान्तिवाले नीलपर्वत पर ब्रह्मर्षि, रजताभामय श्वेतपर्वत पर देवासुर तथा हेमरत्नादिमय शृंगवान् पर्वत पर सपत्नीक देवगण रहते हैं।

इन तीनों पर्वतों के मध्य एक-एक वर्ष है जो क्रमशः रमणक, हिरण्यक तथा उत्तरकुरु नाम से विख्यात हैं। प्रत्येक वर्ष नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाला है।

उत्तरकुरु में ऐसे दिव्य वृक्ष हैं जो समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं। हेम तथा सुवर्ण कण की भूमिवाले इस वर्ष में तेरह हजार वर्ष की आयुवाले देवगण निवास करते हैं।

हिरण्य वर्ष के देवताओं की आयु ग्यारह

हजार वर्ष की है। माया और मति इनके आधीन रहते हैं। ये अपनी स्त्रियों सहित विहार करते हैं।

रमणक वर्ष में मनुष्यों का आवास है। पुण्यकर्मों के कारण यहां के निवासी दस हजार वर्ष पर्यन्त प्राण-धारण करते हुए सुख से रहते हैं। यह मनुष्यों की भोगभूमि है।

सुमेरु के दक्षिण भाग में 'निषध, हेमकूट तथा हिमशैल' नामक तीन पर्वत हैं। यहां सर्प, नाग, गन्धर्व आदि दिव्य योनियां रहती हैं।

हेमकूट पर्वत पर गुह्यजगत के लोग रहते हैं। ये पर्वत भी दो-दो सहस्रयोजन विस्तृत हैं।

इन पर्वतों के मध्यभाग में एक-एक वर्ष है जिनके नाम क्रमशः हरिवर्ष, किंपुरुष और भारतवर्ष है। प्रत्येक वर्ष का विस्तार नौ-नौ हजार योजन है।

हरिवर्ष में ब्रह्माण्ड के अनुयायी दैत्य, दानव, वृत्सिंहादि निवास करते हैं।

किंपुरुष वर्ष में किंपुरुष, गन्धर्व आदि के साथ हनुमान् प्रभृति रहते हैं। ये अष्टादश पुराण, इतिहास आदि के द्वारा श्रीराम का गुणगान करते हैं।

भारतवर्ष में निवास करनेवाले मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मानुसार स्वर्ग, नरक अथवा मोक्ष के अधिकारी होते हैं। अन्य खण्डों की भांति यह केवल भोग भूमि नहीं है, अपि तु कर्मभूमि भी है।

यहां बहने वाली गंगा आदि नदियों में स्नान करके पुण्यात्माएँ पापकालुष्य को दूर करती हुई अपने को कृतकृत्य मानती हैं।

ये आत्माएँ विन्ध्यादि पर्वतों की चोटियों पर चढ़कर भगवद्भक्ति में निमग्न रहती हैं। दूसरी ओर नारकीय दुरात्माएँ काम-क्रोधादि से अपनी आत्मा को मलिन करती हुई व्यभिचार-प्रिय होती हैं जो कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करती हैं।

सुमेरु पर्वत की पूर्व दिशा में दो हजार योजन विस्तृत माल्यवान् पर्वत है। इससे आगे समुद्रपर्यन्त विस्तृत भद्राश्र वर्ष है, जो इकतीस हजार योजन विस्तृत है, यहां शक्ति और तेजः सम्पन्न दस सहस्रजीवी मनुष्य निवास करते हैं। सिद्ध-चारण इनकी शूश्रूषा करते हैं और ये लोग वनविहारप्रिय हैं।

सुमेरु के पश्चिम में दो सहस्रयोजन विस्तृत गन्धमादन पर्वत है। इस पर अनेक सेवकों के सहित कुबेर का निवास है जो अनेक सुन्दर ललनाओं के साथ आमोद-प्रमोद मनाते रहते हैं।

यहां इकतीस हजार योजन विस्तृत हेतु-माल देश है। यह भय एवं शोक रहित दश-सहस्रजीवी मनुष्यों की आवासभूमि है।

सुमेरु के चारों ओर अठारह हजार योजन विस्तृत इलावृतवर्ष है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप में कुल नौ वर्ष एवं नौ पर्वत हैं।

सम्पूर्ण जम्बूद्वीप पूर्व से पश्चिम की ओर अथवा उत्तर से दक्षिण की ओर एक लक्ष योजन विस्तृत है।

अन्य द्वीप और उनकी विशेषताएँ

शास्त्रों में 'सप्तद्वीपा वसुन्धरा' कहा गया है। तदनुसार प्रथम द्वीप जम्बूद्वीप है तथा शेष अन्य प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक एवं पुष्करद्वीप बतलाये हैं। इनका परिचय योग शास्त्रानुमोदित इस प्रकार है—

१—प्लक्षद्वीप-जम्बूद्वीप से दुगुने परिमाण (दो लाख योजन) वाला यह द्वीप है। यह चार लक्ष योजनवाले इक्षुरस-समुद्र से आवेष्टित है।

इसमें—शिव, वयस्, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत तथा अभय नामक सात वर्षों से युक्त है।

तथा इन वर्षों में मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्र-सेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यग्रीव तथा मेघ-माल नाम सात पर्वत है।

यहां अरुणा, तृष्णा, अंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा तथा सत्यम्भरा नामक सात नदियां बहती हैं। इन नदियों का जल स्पर्शमात्र से मनुष्यों के पाप को दूर करता है। यहां के निवासी सूर्योपासक हैं और वे एक सहस्र वर्ष-जीवी होकर प्रजा आदि से परिपूर्ण होते हैं।

२—शाल्मलद्वीप—यह द्वीप प्लक्षद्वीप से द्विगुणित विस्तारशाली है तथा अपने से दुगुने आयामवाले सुरा समुद्र से आवेष्टित है।

इसमें भी सात वर्ष, सात पर्वत और सात नदियां हैं।

जिनके नाम इस प्रकार हैं—सात वर्ष—सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देव, पारिभद्र, आप्यायन तथा अविज्ञात।

सात पर्वतों के नाम हैं—स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, कुमुद, पुष्पवर्ष तथा सहस्रस्तुति ।

अनुमति, सिनीवाली, सरस्वति, कुरु, रजनी, नन्दा तथा राका नामक सात नदियां प्रमुख हैं । यहां के निवासी सोमोपासक हैं ।

३—कुशद्वीप—शाल्मलद्वीप से दुगुने आयाम-वाला यह द्वीप आठ लाख योजन विस्तृत है और सोलह लाख योजन विस्तारवाले घृतसमुद्र से आवेष्टित है ।

पूर्वत यह—'वसु, वसुदान, दृढरुचि, नाभिगुप्त, सत्यकृत, विविक्त एवं नाभदेव' ऐसे सात वर्ष हैं ।

जक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोम और द्रविण नामक सात पर्वतों की यहां स्थिति है ।

यहां की नदियों के नाम घृतकुल्या, रस-कुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता और मन्त्रमाला हैं और यहां के निवासी अग्नि की उपासना करते हैं ।

४—क्रौञ्चद्वीप—कुशद्वीप से द्विगुण आयाम-वाला यह द्वीप अपने से द्विगुणित क्षीरोदधि से परिवेष्टित है ।

यहां के सात वर्ष—आभ, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुभामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण तथा वनस्पति नाम से विख्यात हैं और शुक्र, वर्धमान, भोजन, उप-बर्हण, नन्द, नन्दन एवं सर्वतोभद्र नाम से प्रसिद्ध सात पर्वतों की यहां स्थिति है । अभया, अमृतौघा, अर्वका, तीर्थवती, रूपवती, पवित्रवती

और शुक्ला नामक नदियां इस द्वीप में बहती हैं तथा यहां के निवासी वरुण की उपासना करते हैं ।

५—शाकद्वीप—दधिसमुद्र से आवेष्टित यह द्वीप क्रौञ्चद्वीप से द्विगुणित आयामवाला है ।

तथा इसके सात वर्षों के नाम हैं—पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेक, बहुरूप तथा विश्वधारा ।

ईशान, ऊरुशृंग, बलभद्र, शतकेशर, सहस्र-स्रोत, देवपाल एवं महानस नामक सात पर्वतों से यह विभूषित है ।

अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पञ्चनदी, सहस्रस्तुति तथा निजघृति—ये सात नदियां यहां प्रवाहित होती हैं और यहां के प्राणी समाधि लगाकर प्राण की उपासना करते हैं ।

६—पुष्करद्वीप—स्वादूदक समुद्र से वलया-कारित यह द्वीप शाकद्वीप से दुगुना बड़ा है ।

यहां मानसोत्तर नामवाला केवल एक पर्वत है, जो कि एक अयुत योजन ऊंचा है ।

इसके चारों ओर इन्द्र आदि लोकपालों के चार पुर हैं ।

स्वादूदक समुद्र के आगे की भूमि एक ओर से एक करोड़ सत्तावन लाख पचास हजार आयामवाली है ।

यह भूमि लोकभूमि कहलाती है । इससे आगे लोकालोक पर्वत है और उससे आगे कांचनमयी अलौकिक देवताओं की कीडाभूमि है ।

अन्य लोक और उनके स्वरूप

भू-लोक का परिचय हमने ऊपर दिखलाया है, इसके अतिरिक्त अन्य छह लोक और हैं जिनके नाम—स्वरूपादि इस प्रकार हैं—

१—भुवलोक—भू-लोक के ऊपर यह लोक स्थित है। इसका दूसरा नाम 'अन्तरिक्ष' है। यहां ग्रह, नक्षत्र एवं तारागण ज्योतिष्यक में निबद्ध होकर सञ्चरण करते हैं।

२—स्वलोक—अन्तरिक्ष के ऊपर स्थित इस लोक को माहेन्द्रलोक भी कहते हैं।

यहां—त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित, वशवर्ती तथा परिनिर्मित, वशवर्ती—ऐसी छः देवजातियां हैं।

ये समस्त देव सिद्ध संकल्प तथा अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सम्पन्न होते हैं।

ये शरीरधारण में स्वतन्त्र हैं और एक कल्प पर्यन्त जीवित रहते हैं।

३—महलोक—'प्राजापत्य-लोक' इस का दूसरा नाम है। यह स्वलोक के ऊपर है। यह कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अजनाम, और अमिताम—संज्ञक पांच देवजातियों की निवासभूमि है। ये पंचमहाभूतों को वश में करनेवाले, ध्यानप्रिय तथा कल्प—सहस्र आयुवाले होते हैं।

४—जनलोक—इसकी स्थिति महलोक के ऊपर है। यहां चार प्रकार के देवसमूह हैं—१—ब्रह्मपुरोहित २—ब्रह्मकायिक, ३—ब्रह्ममहाकायिक और ४—अमर। ये भूतेन्द्रिय—वशी हैं।

ब्रह्मपुरोहित दो हजार, ब्रह्मकायिक चार हजार, ब्रह्म महाकायिक आठ हजार तथा अमर संज्ञक देव सोलह हजार कल्प की आयुवाले होते हैं।

५—तपोलोक—जन-लोक से ऊपर तपो-लोक है, यहां अहंकार को वश में रखनेवाले १—अभास्वर २—महाभास्वर तथा ३—सत्य महाभास्वर—ऐसे तीन प्रकार के देव रहते हैं।

ये जन-लोक के देवताओं की अपेक्षा द्विगुण—द्विगुण आयुषुवाले हैं और ये सभी ऊर्ध्वरेतस् होते हैं।

६—सत्यलोक—सब लोकों से ऊपर सत्य-लोक है।

यह योगियों की निवासभूमि है। यहां के योगी चार प्रकार के हैं—१—अच्युत, २—शुद्ध-निवास, ३, सत्याम तथा ४—संज्ञासंज्ञी। ये चारों प्रकार के योगी क्रमशः सवितर्क सविचार, सानन्द और सास्मित समाधि सिद्ध हैं।

प्रणवोपासक इन योगियों की आयु सर्ग-पर्यन्त होती है।

भूलोक के अधोवर्ती लोक

१—अतल-लोक—भूलोक के नीचे यह लोक स्थित है। यहां मय—पुत्रादि असुर निवास करते हैं।

२—वितल-लोक—यह पूर्ववर्ती लोक के नीचे है।

यहां भगवान् शिव पार्वती के साथ विहार करते हैं क्योंकि शिव हाटकी नदी के अधिपति माने गये हैं। यह नदी यहीं प्रवाहित होती है।

यहां भूत, प्रेत, पिशाच, अवस्मार, ब्रह्म-राक्षस, कूष्मालड, विनायक आदि निवास करते हैं।

३-सुतल-लोक-यह वितल-लोक से नीचे हैं। यहां भगवान् कृपा से अनुगृहीत, आत्म-समर्पण के अभिलाषी, प्रभु के प्रवर भक्त अपनी भक्त-मण्डली के साथ निवास करते हैं।

४-तलातल-लोक-उपर्युक्त लोक से नीचे इस लोक की स्थिति है।

यहां मायावी मय और उनके अनुचर रहते हैं।

५-महातल-लोक-यह तलातल के नीचे विद्यमान है।

तथा यहां तक्षकादि सर्पगणों की स्थिति है।

६-रसातल-लोक-इस लोक की स्थिति महातल के नीचे है।

यहां दैत्य, दानव, निवात, कवच प्रभृति रहते हैं।

७-पाताल-लोक-पूर्वोक्त सभी लोकों के नीचे यह लोक है।

यहां वासुकी आदि सर्पाधिराज सपरिवार निवास करते हैं।

उपसंहार

यद्यपि यह कहने वाले नास्तिकप्राय बहुत से लोग हैं, जो ऐसे भुवन-विज्ञान को निराधार अथवा कल्पना-प्रसूत साहित्य की कोटि का मानते हैं, किन्तु जैसे-जैसे विज्ञान अपने पंख फैला रहा है, वैसे ही इस विज्ञान की सत्यता सम्मुख आ रही है। हजारों वर्षों से चली आ रही भारतीय-संस्कृति में इस लोक-विज्ञान का महान् आदर है।

प्रत्येक आस्तिक भारतीय इन लोकों का सादर-स्मरण अपने दैनिक और नैमित्तिक धार्मिक कृत्यों में करता आया है।

भारतवर्ष की महिमा का स्मरण इन लोकों के ज्ञान के बिना अपूर्ण ही कहा जाएगा।

जो लोक इस आर्ष-विज्ञान को अनुपादेय मानते हैं, वे वस्तुतः दया के पात्र हैं।

क्योंकि उनका जीवन चार्वाक के सिद्धान्तों के अनुसार केवल 'होटल में खाओ और होस्पीटल में मर जाओ' का ही अनुसरण कर रहा है।

अस्तु ! हमारा तो यहो निवेदन है कि प्रत्येक विवेकी-मानव को ऐसे तत्वों का अनुशीलन करते हुए सत्य की साधना में अप्रसर होना चाहिये।





एक अमेरिकन विद्वान की खोज पृथ्वी गोल नहीं, चपटी है!!!

लेखक : श्रीयुत हरिराम नागर
उज्जैन (म. प्र.)



[यह एक नई शोध है, जो जैन मान्यताको प्रमाणित करती है। वैज्ञानिक-दृष्टि से आज तक पृथ्वीको गोल मानी जाती है, पर पृथ्वी चपटी है, यह वैज्ञानिक-दृष्टिसे लेखकने कितने ही प्रमाण देकर अपने विषयको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न जैन सिद्धांतको सच्चे-रूपमें प्रगट करता है। संपा०]

हम पृथ्वीकी गोलाईसे इतने अधिक परिचित हो गये हैं कि इसके विरुद्ध कही जानेवाली किसी भी बात पर हम सहसा विश्वास नहीं कर सकते।

इस कारण कन्दुकाकार-पृथ्वीको चपटा कहकर एक अर्वाचीन-सिद्धांतने सचमुच हमें आश्चर्यमें डाल दिया है। हो सकता है, भविष्य में किसी दिन पृथ्वी 'रकाबी' आकारकी बताई जाने लगे।

“श्री जे० मेकडोनाल्ड” नामक अमेरिकन वैज्ञानिक ने अपने एक लेखमें अनेक दृढ़ प्रमाण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि पृथ्वी नारंगीके समान गोल नहीं है।

उसने कहा है कि यदि पृथ्वीको अन्य ग्रहों की भांति एक ग्रह माना जाय, तो निश्चय ही जो सिद्धांत दूसरे नक्षत्रों एवं ग्रहोंके अध्ययनसे

स्वीकृत किये गये हैं; वे हमारी पृथ्वी पर भी लागू होंगे। ऐसी दशामें जिन आधारों पर इस सिद्धांतकी स्थापना की गई है, वे सब अकाट्य और अप्रत्यक्ष हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि खोज निकट भविष्य में समस्त वैज्ञानिक-जगतमें उथल-पुथल मचा देगी। पाठकोंके मनोरंजनार्थ कुछ चुने हुए प्रमाण दिये जाते हैं--

(१) प्रत्येक आधुनिक वैज्ञानिक इस बातको स्वीकार करता है कि चन्द्रमा और अन्य ग्रहोंका एक मुख सदैव पृथ्वीकी ओर रहता है। यदि वे ग्रह कंदुकाकार होते और अपनी धुरी पर घूमते तो निश्चय ही प्रत्येक दिवस अथवा प्रत्येक मास या प्रत्येक सालमें उनके भिन्न २ धरातल पृथ्वी की ओर होते।

इससे सिद्ध है कि चन्द्रमा और अन्य ग्रह रकाबीकी भांति हैं, जिनके किनारे केन्द्रकी अपेक्षा कुछ ऊंचे उठे हैं। यदि सचमुच पृथ्वी भी एक ग्रह है तो अवश्य ही उसका आकार इस रकाबीके समान है।

(२) यदि पृथ्वी गोल होती तो सनातन हिमश्रेणियोंकी ऊंचाई भूमध्यरेखा से दक्षिणमें उतनी ही होती जितनी कि उत्तरमें।

दक्षिणी अमेरिकामें सनातन हिमश्रेणियोंकी ऊँचाई १६००० फुट है, और जैसे हम उत्तरकी ओर बढ़ते हैं, यह ऊँचाई क्रमशः कम होती जाती है; यहां तक कि अलास्का पहुँचने पर वह केवल २००० फुट ही रह जाती है। अधिक उत्तरकी ओर जाने पर यहां ऊँचाई समुद्र तलसे केवल ४०० फुट नापी गई है।

(३) पृथ्वी गोल होती तो उत्तरी ध्रुवके समीप जैसी वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं, वैसे ही दक्षिणी-ध्रुवमें भी होती।

“बास्तवमें उत्तरी-ध्रुवके इर्दगिर्द २०० मीलके भीतर कई प्रकारकी वनस्पतियां पाई गई हैं।”

ग्रीनलैंड, आइसलैंड, साइबेरिया आदि शीत कटिबंधके निकटस्थ प्रदेशमें आलू, मटर, जौ, तथा चनेकी फसलें तैयार होती हैं। इसके विपरीत दक्षिणमें ७० अक्षांश पर ओरकेनी शेडलैंड आदि टापुओं पर एक भी जीव नहीं पाया जाता।

(४) यदि पृथ्वी गोल होती तो उत्तरमें जिस अक्षांश पर जितने समय तक उषःकाल रहता है; उतने ही अक्षांश पर दक्षिणमें भी उतनी ही देर उषःकाल रहता। किंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है।

उत्तरमें ४० अक्षांश पर ६० मिनट तक उषःकाल रहता है और सालके उसी समय भूमध्यरेखा पर केवल १५ मिनट और दक्षिणमें ४० अक्षांश पर तो केवल ५ ही मिनट। मेलबोर्न, ऑस्ट्रेलिया आदि प्रदेश उसी अक्षांश पर हैं, जिन पर उत्तरमें फिलाडेल्फिया है।

यहांके एक पादरी फादर जोन्सटनने इन दक्षिण-अक्षांशों को यात्रा के सिलसिले में लिखा है कि—

“यहां उषःकाल और सन्ध्याकाल केवल ५ या ६ मिनटके लिये होते हैं। जब सूर्य क्षितिजके ऊपर ही रहता है, तभी हम रातका सारा प्रबन्ध कर लेते हैं। क्योंकि जैसे ही सूर्य डूबता है, तुरन्त रात हो जाती है।”

इस कथनसे सिद्ध है कि यदि पृथ्वी गोल होती तो भूमध्य रेखाके उत्तरी-दक्षिणी भागोंमें उषःकाल अवश्य समान होता।

(५) केप्टन जे० रास सन् १८३८ ई० में केप्टन फ्राँशियर के साथ यात्रा करते हुए जितनी अधिक दक्षिणकी ओर आटलांटिक (एंटार्कटिक) सरकिल तक जा सके गये।

उनके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने वहां पहाड़ोंकी ऊँचाई १०,००० से लेकर १३,००० तक नापी और ४५ फुटसे लेकर १,००० फुट तक ऊँची एक पक्की बर्फीली दीवार खोज निकाली।

इस दीवारका ऊपरी भाग चौरस था और उस पर किसी प्रकार की दरार या गड्ढा न था। उस पर चार वर्ष तक ४०,००० मीलकी यात्रा हुई। किन्तु दीवारका कहीं अन्त न हुआ।

यदि पृथ्वी गोल होती, तो इसी अक्षांश पर पृथ्वी की परिधि केवल १०,८०० मील होती, अर्थात् ४०,००० मीलके बजाय केवल १०,८०० मीलकी यात्रा पर्याप्त होती।

(६) यदि उपर्युक्त सिद्धांत ठीक है तो भूमध्यरेखा निश्चय ही भूकी मध्यरेखा ही है; क्योंकि

भू-मध्यरेखा दक्षिणमें समस्त देशांतर-रेखायें उत्तरी भागके समान सँकरी न होकर चौड़ाईमें बढ़ती ही जाती हैं। यहां कोई काल्पनिक आधार नहीं किन्तु अवलोकनीय सत्य है।

कर्करेखा (२३॥ अंश उत्तर, का एक अंश ४५ मीलके लगभग है, किन्तु इससे विपरीत मकर रेखा २३॥ अंश दक्षिण) पर वही अंश ७५ मीलके लगभग होता है। यही नहीं, दक्षिणकी एटलांटिक सरकिल पर तो यह माप बढ़कर १०३ मील हो जाता है।

(७) उत्तर ध्रुवका समुद्र १०,००० से लेकर १३,००० फुट तक गहरा है, किन्तु पृथ्वी तल कहीं भी ५०० फुटसे ऊँचा नहीं है।

यदि केप्टन रास वर्णनसे इसकी तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि दक्षिणी ध्रुवके पहाड़ १०,००० से १६,००० फुट तक ऊँचे हैं और समुद्रकी गहराई ४२३ फुट है।

इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि पृथ्वी मध्यकी अपेक्षा उसका किनारा अधिक उन्नत हैं, पृथ्वीकी तुलना रकाबीसे की जाती है।

इन्हीं सब बातों पर विचार करनेसे भूगर्भ-शास्त्रीयोंने नाशपाती (पीयर) से पृथ्वीकी उपमा दी है। क्योंकि उन्होंने जान लिया है कि यह उत्तरी ध्रुव पर चिपटी है और दक्षिण ध्रुवकी और खिंची हुई है। वे लोग स्पष्टतः क्यों नहीं कहते कि पृथ्वीका आकार रकाबीके समान है ?

(८) पृथ्वीके चपटेपनका एक और प्रमाण सूर्यग्रहण है। उदाहरणार्थ ३० अगस्त सन् १९०५ ई०का ही ग्रहण लीजिये।

यह पश्चिमी और उत्तरी अफ्रीका, उत्तरी अन्ध महासागर, ग्रीनलेण्ड, आइसलेण्ड, उत्तरी एशिया (साइबेरिया) और ब्रिटिश अमेरिकाके पूर्ण भागमें स्पष्ट दिखाई पड़ा था।

यदि पृथ्वी गोल होती तो अमेरिका और एशियामें कभी एकसाथ यह ग्रहण दिखाई न पड़ता।

पृथ्वीका गोला लेकर इस सरल समस्या पर स्वयं ही विचार किया जाता है या जाना जा सकता है। और देखिये—

(९) प्रयोगसे सिद्ध है कि ज्यों ज्यों हम उत्तरी-ध्रुवकी ओर बढ़ते त्यों त्यों पृथ्वीकी आकर्षण शक्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती प्रतीत होती है।

उत्तरी ध्रुवके अन्वेषकोंका यह कहना है कि वे वहां कठिनतासे १०० पौंडका भार ऊठा सकते थे, किन्तु दक्षिणी-ध्रुवके अन्वेषक इसके विपरीत यह कहते हैं कि उन्होंने वहां ३०० पौंडसे ४०० पौंड तकका भार सरलता से उठाया है।

यदि पृथ्वी गोल होती तो दक्षिण ध्रुव भी उत्तरी ध्रुवके समान ही प्रबल होता।

(१०) समुद्रादिमें लोहचुंबक पहाड़ ऐसे हैं कि होकार्यंत्रकी चुंबक सूईके भरोसेमें हम भ्रममें रहकर पृथ्वी गोल होनेका भ्रम और इतनी करीब ८००० मील होनेका मान लिया है। हमारी पृथ्वीको बहुत बड़ा चुंबक माना गया है और इसी चुंबक-शक्तिसे प्रभावित होकर सूई उत्तर ध्रुवको आकृष्ट होती है।

ऐसी दशामें यदि पृथ्वी गोल हो तो भू-मध्यरेखाके दक्षिणमें जाने पर चुंबककी सूई

दक्षिण ध्रुवकी ओर घूम जाना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता ।

इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी अवश्य चिपटी है; क्योंकि चूम्बककी सूई कहीं भी रहे, मध्यमार्गका निर्देश करती रहती है । साथ ही साथ यह भी कह देना उचित होगा कि पृथ्वीके गोलैकी सबसे बड़ी परिधि भूमध्य रेखाके नीचे है और सबसे छोटी उत्तरी ध्रुव पर ।

(११) यदि पृथ्वीको गोल मानें और उसकी परिधि २४,००० मील माने तो २४ घंटेके हिसाबसे उसे अपनी घूरी पर एक घंटेमें १००० मील घूम जाना चाहिये, किंतु यह तीव्र गति इतनी प्रबल है कि धरातलकी प्रत्येक वस्तु चिथड़े होकर छितरा जायगी ।

(१२) यदि यह कहा जाय कि पृथ्वीकी आकर्षण शक्ति ऐसा नहीं करने देती तो न्यूयॉर्क से शिकागो तक (लगभग १००० मील) कोई भी मनुष्य बैलूनमें घण्टेभर भी यात्रा कर सकता है । इसी प्रकार दो-तीन घंटेमें शिकागोसे सान्फ्रांसिस्को तक यात्रा कर सकता है, जो नितान्त अशक्य है ।

(१३) पृथ्वी घूमती हो तो पृथ्वीमेंसे अमुक स्थानसे सीधी ऊँचे एक मील एक बंदूक द्वारा गोली छोड़ी । गोली एक मिनट बाद नीचे पड़े, तो पृथ्वीकी गति ८ मील चली गई माना है; तो गोली उसी स्थान पर क्यों गिरती है ?

(१४) अब उदाहरणार्थ “ऐरिक” नामक नहरको ही लीजिये ।

यह नहर लौकपोष्टसे रोचेटर तक ६० मील लम्बी है । “पृथ्वी गोल है” इस सिद्धांतके अनु-

सार इस नहरके उभारकी गोलाई, ६१० फुट होनी चाहिये । सिरोंकी अपेक्षा मध्यका उठाव २५६ फुट होना चाहिये ।

किन्तु स्टेट इंजीनियरकी रिपोर्ट के अनुसार यह उँचाई ३ फुटसे भी कम है ।

स्वेजकी नहर लीजिये—दोनों ओर समुद्र है, लेवल समान क्यों ?

यदि पृथ्वी गोल है तो उसकी स्वाभाविक गोलाईमें किनारोंकी अपेक्षा बीचका भाग १६६६ फुट उँचा होना चाहिये ।

इसे दृष्टिमें रख कर यदि ‘लालसागर’ से भूमध्यसागरकी तुलना करें तो भूमध्यसागर लालसागरसे केवल ६ इंच उँचा होगा ।

(१५) पाठशालाओंमें पृथ्वीके गोल होनेका सबसे लोकप्रिय उदाहरण समुद्रमें दूर जाते हुए जहाजसे दिया जाता है । इस उदाहरणमें जहाजके क्षितिजके पार छिपते जानेसे और केवल मस्तूलके ऊपरका भाग दिखाई देनेसे पृथ्वीकी गोलाई प्रमाणित की जाती है, किन्तु यह सच-मुच दृष्टिभ्रम है । अपनी आंखें गोल होनेसे दूरकी वस्तु कुछ विपरीत ही दीखती हैं ।

(१६) दृष्टिभ्रमके कई उदाहरण हैं जिसे ‘पर्सपेक्टिव’ कहते हैं । रेलकी पटरियां आगे आगे मिली हुई देखकर क्या कोई अनुमान कर सकता है कि वे क्षितिजके पार जाकर मुड़ गई है । वास्तवमें यह बिन्दु जो दोनों पटरियांको जोड़ता है, इतना सूक्ष्म होता है कि हमारी साधारण दृष्टि उसके पार नहीं पहुँच सकती ।

इस शक्तिशाली दूरबीक्षण यंत्रसे देखा जाय तो निश्चय ही पूरा जहाज दिखाई देगा । क्या पानीकी सतह गोल होने पर ऐसा दृष्टिगत होता ?

(१७) यदि पृथ्वी गोल होती तो भू-मध्य-रेखाके नीचेके भागोंमें ध्रुवतारा कदापि दिखाई न देता, परंतु दक्षिणमें ३० अक्षांश तक ध्रुवतारा सरलतापूर्वक देखा गया है ।

(१८) यदि पृथ्वी गोल होती तो आर्कटिक और एटलांटिक सर्कलमें समान रूपसे तीन महिनेकी रात और तीन महिनेका दिन होता ।

किन्तु वॉशिगटनके 'व्यूरो आफ नेविगेशन' द्वारा प्रकाशित "नौटिकल एलमैनक" नामक पंचांगके अनुसार दक्षिणमें ७० अक्षांश पर स्थित 'शेटलैंड' टापू पर सबसे बड़ा दिन १६ घण्टे ५३ मिनटका होता है ।

उत्तरकी ७० अक्षांश पर 'हैमरफास्ट' नामक स्थानमें पूरे तीन महिनेका सबसे बड़ा दिन होता है ।

(१९) यदि पृथ्वी गोल होती तो उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवोंमें व्यक्तिविषयक भिन्नता न होती ।

"एंटार्कटिक" प्रदेशमें पिस्तौलकी साधारण आवाज तोपकी आवाजके समान गूँजती है और चट्टान टूटनेकी आवाज तो प्रलय-नादसे भी भयंकर होती है । इसके विपरीत उत्तरके आर्कटिक प्रदेशमें ऐसा नहीं है ।

केप्टन होल नामक अन्वेषकका कहना है कि वहाँ बंदूककी आवाज २० फुटकी दूरी पर मुश्किलसे सुनी जा सकती है—

(२०) केप्टन मिले एक स्थान पर अपनी यात्राके प्रसंगमें लिखते हैं कि—

आर्कटिक प्रदेशमें ४० मील अधिकसे साधारण मनुष्य की दृष्टि नहीं पहुँच सकती ।

उत्तरीय-ध्रुवके अन्वेषक इसके विपरीत कहते हैं कि वे १५० से २०० मील तक आर्कटिक प्रदेशोंमें सरलतासे देख सकते हैं ।

(२१) एक अमेरिकन साप्ताहिक पत्र 'हार-पर्स विकली' के २० वीं अक्टूबर सन् १८९४ ई. के अङ्कमें सरकारी विषयके अन्वेषणों के विषयमें लिखा है कि—

उत्तरमें 'कोलोरेडो इलेक्शन' पेमाऊंट डन-कम्प्रेगी (१४४१८) से 'माऊंट एलन' (१४४-१० फुट) तक अर्थात् १८३, मीलकी दूरी पर वे लोग हेलियोग्राफ (पालिश चढ़ाये शीशे) की सहायतासे समाचार भेजनेमें सफल हुए ।

यदि पृथ्वी गोल होती तो उपर्युक्त प्रयोग मिथ्या होता ।

क्योंकि १८३ मीलकी दूरीमें मध्य भागसे पृथ्वीकी ऊँचाई (गोलाईके कारण) २२३०६ फुट हो जाती, जो सर्वथा असंभव है ।

(२२) यदि पृथ्वी गोल होती तो इंग्लिश चैनलके बीचमें खड़े हुए जहाजकी छत परसे फ्रांसीसी तटके और ब्रिटिश तटके प्रकाशस्तम्भ (लाइट हाउस) दोनों ही स्पष्ट दिखाई न देते ।

(२३) इसी प्रकार बैटनमें बैठे हुए मनुष्यको पृथ्वी उन्नतोदर दिखाई पडती, किन्तु इसके विपरीत वह पृथ्वीको रकाबीकी भांति समान देखता है ।

सच पूछीये तो अब तक जितने मानचित्र बनाये गये हैं उनमें कोई दोष अवश्य है और उनकी प्रणालियां भी अपूर्ण हैं ।

प्रसंगवश उनका विवरण भी नीचे दिया जाता है ।

(१) मर्केटर प्रोजेक्शन—यह काफमेन नामक जर्मन द्वारा आविष्कृत प्रणाली है। इसमें उत्तरी-भाग अपने वास्तविक आकारसे बहुत बड़े हो जाते हैं।

(२) पोलवीड प्रणाली—यह प्रणाली मर्केटरसे बिलकुल उलट है। इसमें भिन्न भिन्न भागोंका क्षेत्रफल तो दिखाई पड़ता है किन्तु आकार बदल जाते हैं।

(३) कॉनिकल प्रोजेक्शन—इससे ध्रुवके निकटवर्ती उंचे आकाशोंका ठीक नकशा नहीं बन पाता और ध्रुवको बिन्दु रूपमें नहीं दिखलाया जा सकता।

लोकप्रणालीमें भी यह दोष है कि ध्रुवके समीप पृथ्वीके भाग परस्पर निकट हो जाते हैं, और भूमध्य रेखा पर बहुत दूर।

(४) आर्थोग्राफिक प्रोजेक्शन—इसमें नकशे के बीचका भाग तो ठीक बनता है, किन्तु

किनारे के भाग घने हो जाते हैं। ऊपर—नीचेके भागोंमें भी त्रुटि रहती है।

(५) स्टिरिओग्राफिक प्रोजेक्शन—इसमें किनारेका क्षेत्रफल असली-क्षेत्रफलसे बहुत बढ़ जाता है।

इनके अतिरिक्त पोलीकोनिक सेन्सन प्ले-मेंट्रीडके भी प्रोजेक्शन प्रसिद्ध हैं। किन्तु वे सब भी दोषपूर्ण हैं। किसीमें क्षेत्रफल, किसीमें आकार, किसीमें स्थिति ही गलत हैं।

ऐसी दशामें पृथ्वी नारंगीके समान गोल है यह कहना कहां तक युक्तिसंगत है? जो कुछ भी “श्री जे. मेकडोनलकी यह नई खोज (जो जैनधर्मानुसार है)” शीघ्र ही वैज्ञानिक जगतमें उथलपुथल पैदा करेगी।

—‘जीवन’ से

—श्री जैन सत्यप्रकाश वर्ष २० अं० ४ से
साभार उद्धृत.





पृथ्वी संबंधी कुछ नवीन तथ्य मुनी नथमलजी



जैन-दृष्टि के अनुसार भू-वलय (भूगोल) का स्वरूप इस प्रकार है—

“तिरछे लोक में असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र है, उनमें मनुष्यों की आबादी सिर्फ ढाई द्वीप (जम्बू, घातकी और अर्द्ध पुष्कर) में ही है। इनके बीच में लवण और कालोदधि—ये दो समुद्र भी आ जाते हैं, बाकी के द्वीप—समुद्रों में न तो मनुष्य पैदा होते हैं और न सूर्य—चन्द्र की गति होती है, इसलिए ये ढाई द्वीप और दो समुद्र शेष द्वीप समुद्रों से विभक्त हो जाते हैं।

इनको ‘मनुष्य-क्षेत्र’ या ‘समय-क्षेत्र’ कहा जाता है। शेष इनसे व्यतिरिक्त है। उनमें सूर्य—चन्द्र हैं सही, पर वे चलते नहीं, स्थिर हैं। जहाँ सूर्य है वहाँ सूर्य और जहाँ चन्द्रमा है वहाँ चन्द्रमा। इसलिए वहाँ समयका माप नहीं है।

तिरछालोक असंख्य योजन का है, उसमें मनुष्यलोक सिर्फ ४५ लाख योजन का है।”

पृथ्वी का इतना बड़ा रूप वर्तमान की साधारण दुनिया को भले ही एक कल्पना—सा लगे! किन्तु विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं।

वैज्ञानिकों ने ग्रह, उपग्रह और ताराओं के रूपमें असंख्य पृथ्वीयाँ मानी हैं।

वैज्ञानिक जगत् के अनुसार—“ज्येष्ठा तारा इतना बड़ा है कि उसमें वर्तमान दुनियाँ जैसी सात नील पृथ्वीयाँ समा जाती है।”

वर्तमान में उपलब्ध पृथ्वी के बारे में एक वैज्ञानिक ने लिखा है—“और तारों के सामने यह—पृथ्वी एक धूल के कणसमान है।”

विज्ञान निहारिका की लम्बाई—चौड़ाई का जो वर्णन करता है, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति आधुनिक या विज्ञानवादी होने के कारण ही प्राच्य-वर्णनों को कपोल—कल्पित नहीं मान सकता।”

नंगी आँखों से देखने से यह निहारिका शायद एक धुँधले बिन्दु मात्र—सी दिखलाई पड़ेगी, किन्तु इसका आकार इतना बड़ा है कि हम बीस करोड़ मील व्यास वाले गोलों की लम्बाई—चौड़ाई का अनुमान करें—फिर भी उक्त निहारिका की लम्बाई—चौड़ाई के सामने उक्त अपरिमेय आकार भी तुच्छ होगा और—

इस ब्रह्माण्ड में ऐसी हजारों निहारिकाएँ हैं। इसमें भी बड़ी और इतनी दूरी पर है कि

१ लाख—८६ हजार मील प्रति सेकण्ड चलने वाले प्रकाश को वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने में १० से ३० लाख वर्ष तक लग सकते हैं^१।

वैदिक शास्त्रों में भी इसी प्रकार अनेक द्वीप—समुद्र होने का उल्लेख मिलता है।

जम्बूद्वीप, भरत आदि नाम भी समान ही हैं।

आज की दुनिया एक अन्तर—खण्ड के रूपमें है। इसका शेष दुनिया से सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं दीखता। फिर भी दुनिया को इतना ही मानने का कोई कारण नहीं।

आज तक हुई शोधों के इतिहास को जानने वाला इस परिणाम तक कैसे पहुँच सकता है ? कि “दुनिया बस इतनी है ! और उसकी अन्तिम शोध हो चुकी है।”

अलोक का आकाश अनन्त है। लोक का आकाश सीमित है^२। अलोक की तुलना में लोक एक छोटा—सा टुकड़ा है। अपनी सीमा में वह बहुत बड़ा है। पृथ्वी ओर उसके आश्रित जीव और अजीव आदि सारे द्रव्य इसके गर्भ में समाए हुए हैं।

पृथ्वीयां आठ है। सबसे छोटी पृथ्वी “सिद्धशिला” है, वह उँचे लोकमें है।

(१) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा—ये सात बड़ी पृथ्वीयां है।

ये सातों नीचे लोकमें हैं। पहली पृथ्वीका ऊपरी भाग तिरछे लोकमें है। हम उसी पर रहे

हैं। यह पृथ्वी एक ही है। किन्तु जल और स्थल के विभिन्न आवेष्टनों के कारण यह असंख्य—भागों में बँटी हुई है।

जैनसूत्रों में इसके बृहदाकार और प्रायः अचल मर्यादा का स्वरूप लिखा गया है। पृथ्वी के लघ्वाकार और चल मर्यादा में परिवर्तन होते रहते हैं। बृहदाकार और अचल मर्यादा के साथ लघ्वाकार और चल मर्यादा संगति नहीं होती, इसीलिए बहुतसारे लोग असमझस में पड़े हुए हैं।

प्रो० घासीराम जैन ने इस स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है:—१ “विश्व की मूल आकृति तो कदाचित् अपरिवर्तनीय हो ! किन्तु उसके भिन्न—भिन्न अङ्गों की आकृति में सर्वदा परिवर्तन हुआ करते हैं।

उदाहरणतः भू-गर्भ-शास्त्रियों को हिमाचल पर्वत की चोटी पर वे पदार्थ उपलब्ध हुए हैं जो समुद्र की तली में रहते हैं। जैसे “सीप, शंख, मछलियों के अस्थिपञ्जर—प्रभृति”।

अतएव इससे यह सिद्ध हो चुका है कि अबसे ३ लाख वर्ष पूर्व हिमालय—पर्वत समुद्र के गर्भ में था।

स्वर्गीय पण्डित गौपालदासजी वरैया अपनी—“जैन जागरणी” नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

“चतुर्थ काल के आदि में इस आर्य—खण्ड में उपसागर की उत्पत्ति होती है, जो क्रम से

१—हि० भा० अंक १ चित्र १।

२—यूनानी विद्वान् युक्लीड रेखा गणित (दिशागणित) का प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। युक्लीडीव—रेखा गणित का आधार यह है कि विश्वका ओर—छोर नहीं है, वह अनन्त से अनन्त तक फैला हुआ है।

चारों तरफ को फैलकर आर्य-खण्ड के बहुभाग को रोक लेता है।

वर्तमान के एशिया, यूरोप, आफ्रिका और आस्ट्रेलिया ये पांचो महाद्वीप इसी आर्य-खण्ड में है।

उपसागर ने चारों और फैलकर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है। केवल हिन्दुस्तान को ही आर्य-खण्ड नहीं समझना चाहिए।”

अब से लेकर चतुर्थकाल के आदि तक की लगभग वर्ष संख्या १४३ के आगे ६० शून्य लगाने से बनती है। अर्थात्-उपसागर की उत्पत्ति से जो भयानक परिवर्तन धरातल पर हुआ उसको इतना लम्बा काल बीत गया, और तब से भी-अब तक और छोटे-छोटे परिवर्तन भी हुए ही होंगे।

जिस भूमि को यह उपसमुद्र घेरे हुए हैं वहां पहले स्थल था-ऐसा पता आधुनिक भू-शास्त्रवेत्ताओं ने चलाया है जो 'गौडवानालैंड-सिद्धान्त (Gondwanaland Theory) के नाम से सुप्रसिद्ध है।

अभी इस गौडवाना-लैंड के सम्बन्ध में जो विवाद ब्रिटिश एसोशिएशन की भू-गर्भ, जन्तु व वनस्पति-विज्ञान की सम्मिलित मिटिंग में हुआ है, उसका मुख्य अंश हम पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत करते हैं।

सिद्धान्त इस प्रकार है कि-

“किसी समयमें, जिसकी काल-गणना शायद अभी तक नहीं की जा सकी। एक ऐसा द्वीप विद्यमान था” जो दक्षिणी अमेरिका और आफ्रिका के वर्तमान द्वीपों को जोड़ता था और

जहां आजकल दक्षिणी अटलांटिक महासागर स्थित है। इस खोए गए द्वीपको गौडवानालैंड के नाम से पुकारते हैं और इससे हमारे उप-सागर-उत्पत्ति सिद्धान्त की पुष्टि होती है”

अर्थात् प्रो० वोटसनने प्राणी-विज्ञान की अपेक्षा-दृष्टि से विवेचन करते हुए बतलाया कि इन द्वीप-महाद्वीपों में पाये जाने वाले कृमियों (Reptiles) में बड़ी भारी समानता है।

उदाहरण स्वरूप कारू का विचित्र सांप दक्षिणी अमेरिका, मेडागास्कर (आफ्रिका का निकटवर्ती अन्तरद्वीप) हिन्दुस्थान और आस्ट्रेलिया में भी पाया जाता है।

अतएव उन्होंने इन प्रमाणों द्वारा यह परिणाम निकाला है कि दक्षिणी अमेरिका, आफ्रिका और सम्भवतः आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ भू-मध्य-रेखा के निकटवर्ती कोई महाद्वीप अवश्य था, जो अब नहीं रहा।

इसी के समर्थन में उन्होंने एक विशेष प्रकार की मछली का बयान किया जो जल के बाहर अथवा भीतर दोनों प्रकार जीवित रहती रहती है। तत्पश्चात् दक्षिणी आफ्रिका के डा० डूरी ने अनेक प्रमाणों सहित इस बात को स्वीकार किया कि-गौडवानालैंड की स्थिति के सम्बन्ध में अब कोई विशेष मतभेद नहीं है।

समय-समय पर और भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। यह दिखलाने के लिए “वीणा” वर्ष ३ अंक ४ में प्रकाशित एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिसका हमारे वक्तव्य में विशेष सम्बन्ध है :-

“सन् १८१४ में ‘अटलांटिक’ नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें भारत-वर्षके चार चित्र बनाए गये हैं:—पहले नक्शे में ईसा के पूर्व १० लाख वर्ष तक की स्थिति बताई गई है।

उस समय भारत के उत्तर में समुद्र नहीं था। बहुत दूर अक्षांश ५५ तक धरातल ही था, उसके उपरान्त ध्रुव पर्यन्त समुद्र था। (अर्थात् नोर्वे, स्वीडन आदि देश भी विद्यमान न थे।

दूसरा नक्शा ई० पू० ८ लाख से २ लाख वर्ष की स्थिति बतलाता है। चीन, लासा व हिमालय आदि सब उस समय समुद्र में थे.... दक्षिण की ओर वर्तमान हिमालय की चोटी का प्रादुर्भाव हो गया था। उसे उस समय भारतीय लोग ‘उत्तरगिरि’ कहते थे....।

तीसरा चित्र ई० पू० २ लाख से ८० हजार वर्ष तक की स्थिति बतलाता है।

इस काल में जैसे-जैसे समुद्र सूखता गया, वैसे-वैसे इस पर हिमपात होता गया। जिसे आजकल हिमालय के नाम से पुकारा जाता है।

चौथा चित्र ई० पू० ८० हजार से ९५६४ वर्ष पर्यन्त की स्थिति को बतलाता है।

इन वर्षों में समुद्र घटते-घटते पूर्व अक्षांश ७८.१२ व उत्तर अक्षांश ३८.४३ के प्रदेश में एक तालाब के रूप में बतलाया गया है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट विदित है कि—

१-अनेकान्त वर्ष १ किरण ५ पृ० ३०८. “जैन भूगोलवाद”—ले० श्री बाबू वासीरामजी जैन S. S. C. प्रोफेसर “भौतिकशास्त्र” ।

आधुनिक भूगोल की प्राचीन विवरण से तुलना करने में अनेक कठिनाइयों का सामना होना अवश्यभावी है और सम्भवतः अनेक विषमताओं का कारण हो सकता है।

दस करोड़ वर्ष पुराने कीड़े की खोज ने भू-भाग के परिवर्तन पर नया प्रकाश डाला है।

भारतीय जन्तु-विद्यासमिति (जियोलोजिकल सर्वे आफ इन्डिया) के भूतपूर्व डाइरेक्टर डा० वी० एन० चौपड़ा को बनारस के कुओं में एक आदिम युग के कीड़े का पता चला जिसके पुरखे करीब दस करोड़ वर्ष पहिले पृथ्वी पर वास करते थे।

वह कीड़ा एक प्रकार के झींगे (कैंकड़े) की शकल का है। यह शीशे के समान पारदर्शी है, और इसके १०० पैर हैं। यह कीड़ा आकार में बहुत छोटा है।

भू-मण्डल-निर्माण के इतिहास में करीब १० करोड़ वर्ष पूर्व (मेसोजोइक) काल में यह कीड़ा पृथ्वी पर पाया जाता था।

अभी तक इस किस्म के कीड़े केवल आस्ट्रेलिया, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिणी आफ्रिका में देखे जाते हैं।

इस कीड़े के भारतवर्ष में प्राप्त होने से भू-विज्ञानवेत्ताओं का यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है कि अत्यन्त पुरातन-काल में एक समय भारत, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी, आफ्रिका, अमेरिका, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड और एशिया का दक्षिणी भाग एक साथ मिले हुए थे।

बाबा आदम के जमाने का १० करोड़ वर्ष बूढ़ा यह कीड़ा पृथ्वी की सतह के नीचे के पानी में रहता है और बरसात के दिनों में कुओं में पानी अधिक होने से इनके बन्धुओं की संख्या अधिक दिखाई पड़ती है।

बरसात में कुओं में यह क्रीड़े इतने बढ़ जाते हैं कि कोई भी इन्हें आसानी से देख सकता है। बनारस छावणी के 'केशर महल' में नहाने के लिए पानी कुएँ से मशीन से पम्प किया जाता था वहाँ गुसलखाने (स्नानागार) के नहाने के टबों में भी ये क्रीड़े काफी संख्या में उपस्थित पाये गये।

यह छोटा कीड़ा इस प्रकार सुन्दरता के साथ पृथ्वी के आदिम युग की कहानी और अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत की प्राचीन एकता की कहानी भी बहुत पट्टु सुनाता है।

“ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत और सुदूर पूर्व के ये द्वीप-समूह किसी अतीत काल में अखण्ड और अविभक्त प्रदेश था”।

भू-भाग के विविध परिवर्तनों को ध्यान में रखकर कुछ जैन-मनीषियों ने आगमोक्त और वार्तमानिक भूगोल की संगति बिठाने का यत्न किया है।

इसके लिए यशोविजयजी द्वारा सम्पादित 'संग्रहणी' द्रष्टव्य है।

कुछ विद्वानों ने इस के बारे में निम्न प्रकार की संगति बिठाई है:—

भरत-क्षेत्र की सीमा पर जो हैमवत (लघु हिमवंत) पर्वत है, उससे महागंगा और महासिन्धु दो नदियां निकलकर भरत-क्षेत्र में बहती हुई लवणसमुद्र में पूर्व पश्चिम तक गिरी है। जहाँ ये दोनों नदियां समुद्र में मिलती हैं, वहाँ से लवण-समुद्र का पानी आकर भरत-क्षेत्र में भर गया है, जो आज पांच महासागरों के नाम से पुकारा जाता है, तथा मध्य में अनेक द्वीप से बन गए हैं, जो एशिया, अमेरिका आदि कहलाते हैं। इस प्रकार आजकल जितनी पृथ्वी जानने में आई है, वह सब भरत-क्षेत्र में है।”

उपर के कथन से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि “पृथ्वी इतनी बड़ी है कि इसमें एक-एक सूर्य-चन्द्रमा से काम नहीं चल सकता। केवल जम्बूद्वीप में ही दो सूर्य और दो चन्द्रमा है”।”

कुछ दिन पहले जापान के किसी विज्ञान-वेत्ताने भी यही बात प्रगट की कि—जब भरत और ऐरावत में दिन रहता है, तब विदेशों में रात होती है। इस हिसाब से समस्त भरत-क्षेत्र में एक साथ ही सूर्य दिखाई देना चाहिए और अमेरिका, एशिया में जो रात-दिन का अन्तर है वह नहीं होना चाहिए, परन्तु भरत—

१- 'आज-वर्ष २, संख्या ११ मार्च १९४७। फिलिपाइन और उसके वासी-ले० आर. वैकटरामन्'।

१- इंगलिशमेन ता० १६ सितम्बर १९२२ के अंक में लिखता है कि—“वैनगनुई कारखाने के स्वामी मि० वाई द्वारा न्यूजीलैंड में बनाई गई १२ इञ्ची दूरबीन द्वारा मैसर्स टाऊनलैंड और हार्टने हाल ही में हवैरामें दो चन्द्रमाओं को देखा। जहाँ तक मालूम हुआ यह पहला ही समय है जब न्यूजीलैंड में दो चन्द्रमा दिखाई दिए।

क्षेत्र के अन्तर्गत आर्य-क्षेत्र के मध्य की भूमि बहुत ऊँची हो गई है, जिससे एक ओर का सूर्य दूसरी ओर दिखाई नहीं देता। वह ऊँचाई की आड़ में आ जाता है। और इसलिए उधर जानेवाले चन्द्रमा की किरणें वहाँ पर पड़ती हैं। ऐसा होने से एक ही भरत-क्षेत्र में रात-दिन का अन्तर पड़ जाता है। इस आर्य-क्षेत्र के मध्य भाग के ऊँचे होने से ही पृथ्वी गोल जान पड़ती है। उस पर चारों ओर उपसमुद्र का पानी फैला हुआ है और बीच में द्वीप पड़ गए हैं। इसलिए चाहे जिधर से जाने में भी जहाँज नियत स्थान पर पहुँच जाते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही लगभग जम्बू-द्वीप के किनारे-किनारे मेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते हैं और छह-छह महिने तक उत्तरायण-दक्षिणायन होते रहते हैं।

इस आर्य-क्षेत्र की ऊँचाई में भी कोई-कोई मीलों लम्बे-चौड़े स्थान बहुत नीचे रह गए हैं कि जब सूर्य उत्तरायण होता है तभी उन

पर प्रकाश पड़ सकता है। तथा वे स्थान ऐसी जगह पर हैं कि जहाँ पर दोनों सूर्यों का प्रकाश पड़ सकता है तथा दक्षिणायन के समय सतत् अन्धकार रहता है।

जैन दृष्टि के अनुसार (समस्त) पृथ्वी चिपटी है। पृथ्वी के आकार के बारे में विज्ञान का मत अभी स्थिर नहीं है। पृथ्वी को कोई नारंगी की भाँति गोलाकार, कोई लौकी के आकार वाली और कोई पृथिव्याकार मानते हैं।

विलियम एडगल ने इसे चिपटा माना है। वे कहते हैं कि 'सभी मानते हैं कि पृथ्वी गोल है', किन्तु रूस की केन्द्रिय-फोटोग्राफी संख्या के प्रमुख प्रोफेसर 'इसा कोम' ने अपनी राय में जाहिर किया है कि—

“भू-मध्यरेखा एक वृत्त नहीं किन्तु तीन धुरियों की एक 'इलिप्स' है।”

“पृथ्वी चिपटी है इसे प्रमाणित करने के लिए—कितनेक मनुष्यों ने वर्ष बिता दिये, किन्तु

१—पृथ्वी के गोलाकार होनेके संबंध में यह दलील अक्सर दी जाती है कि कोई आदमी पृथ्वीके किसी भी बिन्दुसे खाना हो और सीधा चलता जाए तो वह पृथ्वी की भी परिक्रमा करता हुआ फिर उसी स्थान “बिन्दु” पर पहुँच जाएगा। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पृथ्वी का धरातल नारंगी की तरह गोल अर्थात् वृत्ताकार है। इससे सिर्फ इतना ही साबित होता है कि यह चिपटी न होकर वर्तुलाकार है। अगर पृथ्वी को लौकी की शकल की मान लें तो भी यह सम्भव है कि एक निश्चित बिन्दुसे यात्रा आरम्भ करके सीधा चलता हुआ व्यक्ति फिर निश्चित बिन्दु पर ही लौट आए।

—विश्व० भा०—लेखक श्रीरामाकान्त-पृष्ठ १६०

२—कुछ विद्वानों की गवेषणा तथा खोजके परिणामस्वरूप पृथ्वी का एक नवीन ही आकार माना गया है जो न पूर्णतया गोल है और न अण्डाकार। इस आकार को 'पृथिव्याकार' कहें तो ठीक है, क्योंकि उसका अपना निराला ही आकार है। इस आकार की कल्पना इस कारण की गई है कि पृथ्वी का कोई भी अक्षांश—यहाँ तक कि विषुववृत्त रेखा भी—पूर्णवृत्त नहीं है।

३—क्या भू गोल है? The Sunday-News of India 2nd May, 1954.

—विश्व० लेखक रामनारायण B. A. पृ० ३५।

बहुत थोड़ों ने 'सोमरसेट' के वासी स्वर्गीय 'विलियम एडगल' के जितना साहस दिखाया था।

“ एडगल ने ५० वर्ष तक संलग्न चेष्टा की। उसने रात्रि के समय आकाश की परीक्षा के लिए कभी बिछौने पर न सोकर कुर्सी पर ही रातें बिताई। ”

उसने अपने बगीचे में एक ऐसा लोहे का नल गाड़ा जो कि ध्रुव तारे की तरफ उन्मुख था और उसके भीतर से देखा जा सकता था। उस उत्साही-निरीक्षक ने आखिर इस सिद्धान्त का अन्वेषण किया कि—

“पृथ्वी थाली के आकार—चपटी है जिसके चारों तरफ सूर्य उत्तर से दक्षिण की तरफ घूमता है। उसने यह भी प्रगट किया कि ध्रुव ५००० माइल दूर है और सूर्य का व्यास १० माइल है।”

जैन-दृष्टि से (समस्त) पृथ्वी को चिपटी मानी गई है—यह समग्रता की दृष्टि से है। विशाल-भूमि के मध्यवर्ती बहुत सारे भूखण्ड वर्तुलाकार भी मिल सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार लङ्का से पश्चिम की ओर आठ योजन नीचे पाताल लङ्का है।

काल-परिवर्तन के साथ-साथ भरत-ऐरावत के क्षेत्र की भूमि में हास होता है—“भरतै-

रावतयो वृद्धिहासौ...तत्त्वार्थ ३।२८ ताभ्यामपरा भूमयोपस्थिताः... ३।२६

श्लोक वार्तिककार विद्यानन्द स्वामीने भी कहा है कि—

तास्स्थ्यात् तच्छब्दासिद्धे भरतैरावतयो वृद्धिहास योगः अधिकरणनिर्देशो वा”—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक ३।२८ टीका पृ० ३५४

त्रिलोकसारमें प्रलयके समय पृथ्वीको १ योजन विध्वस्त होना माना है—

“तेहितो सेसजणा, णस्संति विसग्गिवरिसदड्ढमहो। इग्गि जोयणमेत्तमद्धो, चुण्णीकिज्जदि हु

कालवसा। (ति० ८६७)

इसका तात्पर्य यह है कि भोग-भूमि के प्रारम्भ से ही जम्बूद्वीप के समतल पर 'मलवा' लदता चला आ रहा है, जिसकी ऊँचाई अति दुष्पमा के अन्त में पूरी एक योजन हो जाती है। वही 'मलवा' प्रलयकाल में साफ हो जाता है और पूर्ववाला भाग ही निकल आता है। इस बड़े हुए 'मलवे' के कारण ही भूगोल मानी जाने लगी है। अनेक देश नीचे और ऊपर विषम-स्थिति में आ गए हैं।

इस प्रकार वर्तमान की माने जाने वाली भूगोल के भी जैनशास्त्रानुसार अर्धसत्यता या आंशिक-सत्यता सिद्ध हो जाती है, एवं समतल

१-(क) सु० च० (ख) अनेक लोगों का मत है कि पृथ्वी गोल है। इसकी पार्श्ववर्ती गोलाई में एक ओर भारत स्थित है। इसके ठीक विपरीत अमेरिका है अतः उनके विचार से अमेरिका ही पाताल लोक है।

—धर्म०-वर्ष ६ अंक ४९ दिसम्बर ४, १९५५

की प्रदक्षिणा रूप अर्ध नारंगी के समान गोलार्ध भी सिद्ध हो जाती है।

चर-अचरः—

जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी स्थिर है। वर्तमान के भूगोल-वेत्ता पृथ्वी को चर मानते हैं। यह मत-द्वैध्य बहुत दिनों तक विवाद का स्थल बना रहा।

आइन्स्टीन ने इसका भाग्य पलट दिया।

“क्या पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है या स्थिर है?” सापेक्षवाद के अनुसार कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। हम Denton की पुस्तक *Relativity* से कुछ यहां भावार्थ उपस्थित करते हैं :-

“सूर्य-मण्डल के भिन्न-भिन्न ग्रहों में जो आपेक्षित गति है उसका समाधान पुराने ‘अचल पृथ्वी’ के आधार पर भी किया जा सकता है, और ‘कोपरनिकस’ के उस नए सिद्धान्त के आधार पर भी किया जा सकता है, जिसमें कि पृथ्वी को चलती हुई माना जाता है।

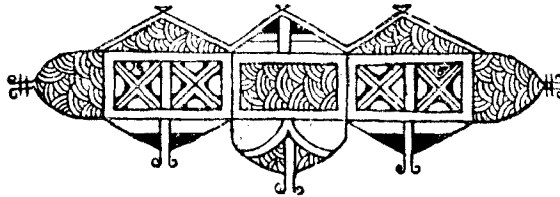
दोनों ही सिद्धान्त सही है और जो कुछ खगोल में हो रहा है उसका ठीक-ठीक विव-

रण देते हैं। किन्तु पृथ्वी को स्थिर मान लेने पर गणित की दृष्टि से कई कठिनाइयां उत्पन्न होती है, सूर्य और चन्द्रमा की कक्षा तो अवश्य गोलाकार रहती है, किन्तु सूर्य से अन्य ग्रहों का मार्ग बड़ा जटिल हो जाता है जिसका सरलता से हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

(इस हिसाब को जैनाचार्यों ने बड़ी सुगमता से लगाया है जिसे देख कर जर्मनी के बड़े बड़े विद्वान् G. R. D. G. schubieng प्रभृति शतमुख से प्रशंसा करते हैं) किन्तु सूर्य को स्थिर मान लेने पर सब ग्रहों की कक्षा गोलाकार रहती है। जिसकी गणना बड़ी सुगमतासे ही हो सकती है।”

आइन्स्टीन के अनुसार विज्ञान का कोई भी प्रयोग इस विषय के निश्चयात्मक सत्य का पता नहीं लगा सकते।

“सूर्य चलता हो अथवा पृथ्वी चलती हो किसी को भी चलायमान मानने से गणित में कोई त्रुटि नहीं आएगी।”



१-‘जैन’ १ अक्टूबर १९३४. लेखक:-श्रीमान् प्रोफेसर घासीरामजी M. S. C.-A. P. S. लन्दन।

२-ज्यो० रत्ना०-भाग १ पृ० २२८

ले० देवकीनन्दन मिश्र।

નવી પેઢીને વિજ્ઞાનવાદની અંજમણી-છાયામાંથી છોડાવવા

શ્રદ્ધાને શાસ્ત્રાનુસારી બનાવવા

શ્રી જ'બૂદ્ધીપતું સ્કેલમાપ પ્રમાણે ૪૭ $\frac{૩}{૪}$ x ૪૭ $\frac{૩}{૪}$ મોડલ તૈયાર થઈ રહેલ છે
પાલીતાણા ગિરિરાજની તળેટીમાં પૂર્ણથવાની તૈયારીમાં છે,
શ્રદ્ધાળુ ભાગ્યશાળીઓને લાભ લેવા વિનંતી છે સાથે સાથે...

આખા ભારત ભરમાં પ્રથમવાર

સાત હાથ પ્રમાણ કંચન વર્ણી શ્રી મહાવીર પ્રભુની મૂર્તિ
મૂળ નાયક તરીકે

અને

૨૧ કુટના મંગળ તોરણ પરિકરમાં વર્ણુ પ્રમાણે વર્તમાન ચોવીસી
તથા

ઇતિહાસમાં સર્વ પ્રથમવાર

૯ કુટના ચોવીશીવાળા

શ્રી મનોરથ કલપદ્રુમ પાર્શ્વનાથ

જેના પરિકરમાં ૨૪ વિશિષ્ટ-તીર્થોના નાયક

શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુ ભોંયરામાં પધરાવાશે.

તે

શ્રી મહાવીર પરમાત્માના અદ્ભુત

શિલ્પકળાસમૃદ્ધ ૧૧૧ કુટ ઉંચા શિખરવાળા જિનાલયના

નિર્માણમાં ઉદાર હાથે લાભ લેવા સહુને વિનંતિ છે.

વધુ માહિતી માટે છાપેલી પત્રિકા મેળવો

આગમ મંદિર પાસે
તળેટી

ભાથાખાતા પાછળ
પાલીતાણા ૩૬૪૨૭૦

નિવેદક

શ્રી વર્ધમાન જૈનપેઢી

પાલીતાણા